

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180215

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84
054A

Accession No. H 3323

Author ओम्प्रकाश

Title आत्मोचना की ओर 1956

This book should be returned on or before the date
last marked below.

डॉ० ओम्प्रकाश
का
आलोचनात्मक साहित्य

- | | |
|--|---------|
| १. आलोचना की ओर
(परिवर्द्धित संस्करण) | ३) |
| २. भावना और समीक्षा | ४) |
| ३. हिन्दी-अलंकार-साहित्य | ६) |
| ४. हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य | ८) लगभग |

आलोचना की ओर

(२१ आलोचनात्मक लेख)

लेखक

डाक्टर ओम्प्रकाश

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
हंसराज कॉलेज, दिल्ली ।

भारती साहित्य मन्दिर,

फव्वारा, दिल्ली ।

प्रकाशक :—

भारती साहित्य मन्दिर,
फव्वारा, दिल्ली ।

परिवर्द्धित संस्करण

१९५६

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक :—

ऑक्सफोर्ड एण्ड कैम्ब्रिज प्रेस,
उद्दं बाजार, दिल्ली ।

“भाषा

ठीक करने से

पहिले

मैं

मनुष्यों को

ठीक करना

चाहता हूँ ।”

(प्रसाद : चन्द्रगुप्त)

विषय सूची

१. हिन्दी साहित्य और समालोचना	१—११
२. रासो काव्य-शैली	१२—२०
३. विद्यापति की राधा	२१—२८
४. सूर सूर तुलसी ससी	२९—३६
५. कबीर और बौद्धमत	३६—४४
६. पद्मावत में रूपक-तत्व	४४—५२
७. भ्रमर-गीत की भूमिका	५३—६३
८. रहस्यवाद	६३—७३
९. प्रसाद जी के स्त्रीपात्र	७४—८०
१०. उर्मिला की पूरक यशोधरा	८१—८६
११. रामवनगमन की परिस्थितियां	६०—६८
१२. प्रगतिवाद	६८—१०८
१३. राष्ट्रकवि प्रसाद	१०६—१२१
१४. साहित्य और उसका उद्देश्य	१२२—१३२
१५. तमिल भाषा तथा साहित्य	१३३—१४०
१६. प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास	१४०—१५०
१७. गोदान के कथोपकथन	१५०—१५६
१८. कहानी-कला	१५६—१६८
१९. बिहारी सतसई में इतिहास	१६८—१७४
२०. कविप्रिया की परम्परा	१७४—१८६
२१. हिन्दी के मंगलकाव्य	१८६—२०१

हिंदीसाहित्य और समालोचना

(१)

हिन्दीसाहित्य का अध्ययन जहाँ इतना सरल है—बचपन से ही हिन्दी के साहित्यिकों और उनके काव्यों से हमारा सुना-सुनाया परिचय हो जाता है, हिन्दीसाहित्य की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परम्परा हमारे हृदय पर एक स्पष्ट चित्र बनाये हुए हैं—वहाँ एक सबसे बड़ी कठिनाई हिन्दीसाहित्य की आलोचना में यह होती है कि इसका कोई सर्वजनसम्मत अतः स्थिर रूप नहीं है, आज हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि किन प्रमुख सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर हमको अपने साहित्यिकों की कृतियों का विवेचन करना चाहिये ।

एक ओर अलोचकों का वह पुराणपंथी दल है जो 'दशरूपक' में दिये हुए लक्षणों की कसौटी पर 'स्कन्दगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' का मूल्य निर्धारित करना चाहता है, जिसके सामने केवल यही प्रश्न है कि 'कामायनी' में महाकाव्य के सभी लक्षण मिलते हैं या नहीं, और जो महादेवी वर्मा के काव्य में अलंकारों की छटा देखकर ही निहाल हो जाता है । दूसरी ओर अंग्रेजी के वे विद्वान् हैं जो ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति में हिन्दी पद्य का हास तथा गद्य का विकास देखते हैं, जिनके

मत में छायावाद की पृष्ठभूमि द्वितीय महासमर से उत्पन्न जीवन से पलायन पर स्थित है, और जो हिन्दीसाहित्य की प्रगति पर अपना भाषण उस दिन से प्रारम्भ करेंगे जब कार्ल मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'केपीटल' लिखकर संसार के मजदूरों को यह सम्मति दी थी कि वे संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए पूँजीपतियों से लड़ें ।

दूरी दो प्रकार की होती है—एक कालगत और दूसरी देशगत । यदि संस्कृत के विद्वान् काल-दोष के अपराधी हैं, तो अंग्रेजी के विद्वान् देश-दोष के । संस्कृतज्ञ समालोचकों से एक दूसरी बात भी कही जा सकती है कि पहिले लक्ष्य ग्रन्थों का निर्माण होता है, फिर उनकी प्रवृत्तियों का सामान्यीकरण करके लक्षण ग्रंथ लिखे जाते हैं; संस्कृत के लक्ष्यग्रन्थों को ध्यान में रखकर जो लक्षण ग्रंथ संस्कृत के आचार्यों ने बनाये थे वे आज हमारी कसौटी नहीं बन सकते क्योंकि ऐसा करने से कालदोष के अतिरिक्त कालक्रमदोष भी हो जायगा; हिन्दी लक्ष्यग्रन्थों के लिये आप ऐसे लक्षण ग्रंथ बनाइए जो हिन्दी लक्ष्य ग्रंथों की साहित्यिक मान्यताओं के संकलन मात्र हों । और इन अंग्रेजीवालों से हमारा यही निवेदन है कि यद्यपि आज विज्ञान ने देशगत दूरी को त्याज्य घोषित करने का संकल्प कर लिया है, फिर भी भारत की नब्बे प्रतिशत जनता पर यूरोपीय घटनाओं का कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता, और हमारे साहित्यिक या तो जनता के प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते (क्योंकि आप उनके स्वर में यूरोपीय स्वर सुनते हैं, और हमारी जनता उस स्वर से कोसों दूर है) या उनकी रचनाओं में अपने देश और समाज की समस्याओं की ही छाया है यूरोप के आन्दोलनों की नहीं; संभवतः नवीन कृतियाँ उतनी प्रचलित नहीं हैं जितनी पुरानी रचनाएँ—इसका कारण भी यहीं दिखलाई पड़ सके ।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि संस्कृत साहित्यशास्त्र या अंग्रेजी साहित्यशास्त्र के गंभीर ज्ञान के बिना हम हिन्दी आलोचना के प्रति न्याय कर सकेंगे। कारण स्पष्ट है कि दोनों से हमको दो आवश्यक अंगों की पूर्ति मिलती है। संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक तक अत्यधिक प्रभाव रहा, तथा अंग्रेजी साहित्य का आदर्श इस युग में सभी भारतीय साहित्यिकों के सामने रहता है। साथ ही, संस्कृत के साहित्यशास्त्र से हम सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विश्लेषण में अपार सहायता प्राप्त करते हैं, संस्कृत का रससिद्धान्त आलोचकों के काम को एक स्थायी वस्तु है, संस्कृत आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य के उद्देश्य और लक्ष्य भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं। और अंग्रेजी आज के विश्व की सबसे सम्पन्न तथा प्रतिनिधि भाषा है, उसका साहित्य हमारे साहित्य को हाथ पकड़ कर साथ ले चल सकता है, उसमें आलोचना के सिद्धान्त मानव के नवीनतम ज्ञान पर आश्रित हैं, इसलिए अंग्रेजी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

वस्तुतः मेरा अभिप्राय यही है कि हिन्दी के आलोचकों को दूसरे साहित्यशास्त्रों के दाँवपेचों में ज्यों का त्यों पड़कर अन्धानुसरण न करना चाहिए, हिन्दी का साहित्य भी एक सहस्र वर्ष से सांस लेता चला आ रहा है, उसका अपना एक दृष्टिकोण भी है और मौलिकता भी होनी चाहिये, यही हमारे साहित्यशास्त्र का आधार हो सकता है। यदि हम अपने साहित्य से प्रेम करते हैं तो हमको एक श्रद्धालु पाठक के समान साहित्यिक विशेष की रचनाओं का मनन करना पड़ेगा, तब हम उसके विषय में कुछ कहने के अधिकारी हो सकते हैं, क्योंकि सफल तथा सच्चा आलोचक वही हो सकता है जिसके हृदय में श्रद्धा एवं स्वतन्त्र चिन्तन और मनन का धैर्य होगा।

एक और भी कारण है जिससे मैं स्वतन्त्रता और मौलिकता की बार-बार चर्चा करता हूँ। यह दुर्भाग्य ही कहा जावेगा कि हिन्दीसाहित्य का जन्म तथा विकास दासता के वातावरण में ही हुआ, इसलिए साहित्यिकों में किसी न किसी प्रकार की हीनता ग्रन्थि प्रायः दिखलाई पड़ती है। पुराने युग में 'भाषा' लिखने की हीनता हम तुलसी और केशव में देख पाते हैं—तुलसी ने अपने 'मानस' का प्रत्येक सोपान संस्कृत से प्रारम्भ किया जिससे यह स्पष्ट है कि "का भाषा, का संस्करित, प्रेम चाहिए सांचु" लिखने पर भी वे 'भाषा' को हीन समझते थे, और केशव ने तो स्पष्ट ही 'भाषा' में रचना करने के कारण अपने को कुलकलंक समझा है। आजकल के साहित्यिक यूरोप के प्रत्येक आन्दोलन की ताल पर नाचने लगते हैं, फलतः जीवित साहित्यिकों में ऐसे कई हैं जो अपने जीवन में कई रंग बदल चुके हैं, हम नहीं कह सकते कि पाठकों के लिए उनका क्या संदेश है, कोई संदेश हो भी सकता है या नहीं? मैं साधारण साहित्यिकों की बात नहीं कर रहा, मेरे सामने कनिष्ठिकाधिष्ठित साहित्यिकों के चित्र हैं।

हीनताग्रन्थि का एक दूसरा रूप यह है कि लेखक अपने पाठकों को बहुत पिछड़ा हुआ और अपने को बड़ा अग्रगामी समझे। हमारे एक सुप्रसिद्ध प्रगतिवादी लेखक ने अपनी 'अमर कृति' की भूमिका में, जिसके लिए लिखने में सफलता ही लेखक का चरम लक्ष्य है, उसी 'हिन्दी के पाठक' के प्राथमिक दृष्टिकोण पर खेद प्रकट किया है।^१

यह हीनता-ग्रन्थि आलोचकों में एक दूसरे ही रूप से दिखलाई पड़ती है। सौ कामों में लगा हुआ संसारी आदमी जब हिन्दी के साहित्यिक की आलोचना करने बैठता है तो अंग्रेजी विद्वानों की

उक्तियों को इस साहित्यिक पर घटाकर, इस साहित्यिक की किसी विदेशी साहित्यिक से तुलना करके पाठकों को कृतकृत्य मानता है। भाई, आलोचना का तो यह अर्थ है कि प्रस्तुत साहित्यिक का सधैर्य अध्ययन हो, उसकी कृतियों पर मनन किया जावे, और उसके जीवन-दर्शन का चिन्तन करते हुए पाठक के लिए पथ प्रशस्त कर दिया जावे, फिर आप अपने अल्पकालीन परिचय से ही किसभांति आलोचक के पवित्र कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकते हैं ? मानसिक दासता राजनीतिक दासता से भी अधिक भयावह है, जिस साहित्य में स्वावलम्बन न होगा वह किस प्रकार आगे बढ़ सकता है, यह सोचने की बात है।

अस्तु, जब दो प्रकार की अतियों के दोष स्पष्ट हो गये तो अब काम की बात पर आना चाहिये। हम यह कह चुके हैं कि हिन्दीसाहित्य का सृजन हीनता के वातावरण में हुआ, इसलिए एक साहित्यिक पर कोई एक दबाव रहा है, अन्य साहित्यिक पर कोई और दूसरा। फलतः हम यदि सिद्धान्तों का सामान्यीकरण करें तो भी हमको ऐसी कोई एक कसौटी नहीं मिल सकती जो सबके प्रति न्याय कर सके। ऐसी दशा में हमारा अवलम्ब रह जाता है साहित्यिक विशेष की साहित्यविषयक मान्यताओं का अध्ययन तथा उनकी छाया में उसकी कृतियों का मूल्यांकन। प्रत्येक प्रमुख साहित्यिक का एक स्वतन्त्र रूप होगा जिसका विश्लेषण निम्नलिखित शीर्षकों में हो सकता है :—

(१) परिस्थितियां—ऐतिहासिक, सामाजिक तथा धार्मिक।

(२) परम्परा—(क) साम्प्रदायिक।

(ख) साहित्यिक।

(३) व्यक्तित्व—जन्म, ज्ञाति, अध्ययन, पद ।

(४) जीवन दर्शन—संदेश ।

परिस्थितियों का महत्त्व आजकल सभी समालोचक स्वीकार करने लगे हैं । कोई-कोई तो यह भी कहना चाहेगा कि व्यक्तित्व का निर्माण केवल परिस्थितियों के ही हाथ में है । परन्तु प्रथम तो हम परिस्थितियों का इतना व्यापक अर्थ न लेकर उनको ऐतिहासिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति के रूप में ही ले रहे हैं; दूसरे, साहित्यिक को व्यापक परिस्थितियों का दास-मात्र मान लेने से उसकी रचनात्मक योग्यता का कोई कारण नहीं खोजा जा सकता, तीसरे, यदि साहित्यिक केवल परिस्थितियों का ही दास है तो समकालीन साहित्यिकों में इतना पारस्परिक अन्तर न मिलना चाहिए, परन्तु होता इसके विपरीत है । इसलिए हम परिस्थितियों को प्रबल मानते हुए भी संस्कारों के महत्त्व को अंगीकार करते हैं—परिस्थितियाँ उपस्थित अवश्य होती हैं परन्तु उनका प्रभाव व्यक्ति पर उसके संस्कारों के अनुसार ही पड़ता है, सूर्य की प्रचंडता से ताप सबको होता है परन्तु मोम पिघल जाता है, पानी भाप बनकर उड़ जाता है, और सिकता स्वयं दहकने लगता है ।

परंपरा के महत्त्व की स्वीकृति अभी कुछ कम दिखलाई पड़ती है । वस्तुतः इसका स्पष्टीकरण या तो भक्तिकाल में होता है या आधुनिक काल में । तुलसी, सूर, कबीर तथा जायसी लगभग एक ही काल में जन्म लेकर भी एक दूसरे से कितने भिन्न हैं इसका कारण उनकी सैद्धान्तिक परंपरा है । जैन साहित्य की साहित्यिक परंपरा कुछ वीर काव्यों में होती हुई जायसी को प्राप्त हुई, और जायसीवाली शैली पर ही तुलसी ने अपना अमर ग्रंथ लिखा; बौद्धों की साहित्य

शास्त्र के प्रति उदासीनता कबीर की अलंकारहीन सचाई में दिखलाई पड़ती है, और जयदेव के 'गीतगोविंद' की सभी विशेषताएं विद्यापति की कुंजी बन गई हैं। आजकल प्रसाद, महादेवी तथा मैथिलीशरण के पारस्परिक भेद में उनकी परंपराओं का भी कुछ हाथ अवश्य माना जावेगा।

यह स्वयं एक मनोरंजक प्रश्न है कि परंपरा के ग्रहण में व्यक्तित्व कितना उत्तरदायी है। परन्तु जैसा ऊपर भी कहा है व्यक्तित्व या संस्कार एक ढांचा तैयार कर देते हैं जिसमें परिस्थितियां और परंपराएँ रंग भर दिया करती हैं। जन्म तो यह निश्चय करता है कि भावी शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार हो सकेगी। भारत में जाति भी एक मुख्य स्थान रखती है। यदि कबीर उच्च जाति के होते तो कदाचित् ऐसे असाहित्यिक शब्दों में ब्राह्मणों को न फटकारते, और यदि केशव ब्राह्मण न होते तो उनमें आचार्यत्व का इतना अभिमान न होता। बहुत कुछ इसके ऊपर भी निर्भर है कि प्रस्तुत साहित्यिक ने 'मसि कागद छूयो नहिं हाथ' है या वह 'नानापुराणनिगमागम' को पढ़ चुका है, और केशव तथा देव की तुलना यह भी बतलावेगी कि राजगुरु बनकर सुख का जीवन बिताना तथा 'केते नरनाहनि की नांही सुनि' एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिरना किन भिन्न प्रकार के काव्यों को जन्म दे सकते हैं।

यदि साहित्य जीवन की आलोचना है तो साहित्यिक का महत्त्व इसी बात पर निर्भर है कि उसने पाठक के लिए क्या सन्देश छोड़ा है। संभवतः कुछ लोग साहित्य का उद्देश्य उपदेशहीन चित्रण मान कर मेरे कथन का विरोध करें, परन्तु यह निश्चय है कि प्रत्येक स्रष्टा का एक विशेष दृष्टिकोण होता है—वह जीवन को अपनी आंखों से देखता है—और वह पाठक को भी अपनी आंखें देकर जीवन की एक

मांकी उसके सामने रखता है, यही उसका जीवन दर्शन है। साहित्यिक के जीवन-दर्शन पर देश-काल का एक हलका आवरण भी रहता है, और वही रचयिता महान् है जो इस आवरण को हलके से हलका बनाकर अपनी कृतियों में चिरंतन तथा सर्वव्यापक सत्य का उद्घाटन कर सके।

जीवन-दर्शन पर जातीयता की छाप भी व्यक्तित्व के रूप में पाई जाती है। भारतीय साहित्य में आर्यभाव, संस्कार एवं नियति दार्शनिकता तथा उपदेशात्मकता के चिन्ह एक विशेषता के ही द्योतक हैं। हमारे कवियों ने जीवन को अविभक्त रूप से देखकर उसमें आशा तथा आनन्द का प्रवाह पाया है, हमारा जीवन एक अनन्त सागर का बिंदु-मात्र है, इसलिए व्यक्तिगत अनुभूतियां हमारे ऊपर सुख-दुःख की वर्षा नहीं कर सकतीं, यदि हम अपने विकास के लिए सन्मार्ग पर चल चुके हैं तो कोई भी आपत्ति (मृत्यु भी) बाधक नहीं बन सकती क्योंकि मृत्यु के साथ हमारे जीवन का अन्त नहीं हो जाता—हम अमर हैं, हम अविनश्वर हैं, हमारे आत्मविकास की कोई सीमा नहीं। इसलिए भारत के प्रतिनिधि साहित्यिक पाठक में उत्साह तथा आनन्द का संचार कर देते हैं, सर्वभूतहित के लिए उसके हृदय में बड़े से बड़े त्याग की भावना को जगा देते हैं, कबीर जैसा दुःखवादी भी 'पिय को रिझाय' कर आत्मविभोर हो जाता है, निराशा के इस युग में प्रसाद जी "प्रशस्त पुण्य-पथ है, बड़े चलो, बड़े चलो" का मंत्र फूंककर मृतप्रायः जीवों को भी दो डग आगे ठेल देते हैं। नियति या कुछ कामों में परवशता भारत का एक स्वीकृत सिद्धान्त है और आश्चर्य तो यह है कि श्रृंगारी कवियों ने भी अपने प्रतिदिन के व्यवहार तक में इसको स्वीकार किया है, बिहारी के 'मुहजोर तुरंगों' का 'लाज-लगाम' न मानना कुछ गहरा रहस्य

छिपाए हुए है, वही परवशता “रावरी बसाय तो बसाय न उजारिये” में घनानन्द ने स्पष्ट करदी है, और विद्यापति के “कबहुँ रसिक सँय दरसन होय जनु” में भी यही बात है कि व्यक्ति परवश है, प्रतिदिन के साधारण कर्मों का नियमन भी उसके हाथ की बात नहीं। उपदेश देने के लिए तो भारत का कवि बदनाम है, परन्तु सूक्तियों की महत्ता आजकल स्वीकार सभी करते हैं और आलोचना में एक तत्त्व यह भी बतलाया जाता है कि प्रस्तुत कवि या लेखक की सूक्तियाँ बड़ी गंभीर तथा प्रभावशालिनी हैं। यदि वस्तुतः सूक्तियों का कोई महत्त्व है, तो हिन्दी-साहित्य की सम्पन्नता पर अश्रद्धा नहीं की जा सकती; कवियों ने गंभीर चिन्तन के फलस्वरूप ऐसे उद्गार पाठक के सामने रखे हैं जिनके सूत्रों से ग्रथित जीवन-पट बहुमूल्य होगा, परन्तु यह दुःख की बात है कि हमारे आलोचकों ने अभी तक इस ओर ध्यान कम ही दिया है।

संस्कृत साहित्य के प्रारंभिक दिनों में आत्मा को ही ओर अधिक ध्यान था कलेवर की ओर कम फलतः गंभीर तथा सम्पन्न विचारों को भी छोटे छोटे सूत्रों में ही ग्रथित किया गया, रचयिता अपने आजीवन चिन्तन तथा मनन के रहस्य को थोड़े से थोड़े शब्दों में कह कर जिज्ञासुओं के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर लेता था, ये सूत्र पूर्ण वाक्य भी न होते थे फिर इनमें बनाने वाले के नाम तथा उसकी व्यक्तिगत छाप का प्रश्न ही नहीं आता। इस प्रवृत्ति का प्रभाव समालोचना पर यह पड़ा कि अपने आजीवन अध्ययन का परिणाम आचार्य लोग “उपमा कालिदासस्य” या “माघे सन्ति त्रयो गुणाः” कहकर ही शिष्यों के सामने मनन के लिए प्रस्तुत कर दिया करते थे।

इन आचार्यों की निस्पृहता कितनी श्रद्धास्पद है, न इनको अपने यश या नाम की इच्छा है, न ये एक साहित्यिक के प्रति पक्षपात तथा अन्य के प्रति द्वेष ही दिखलाते हैं ।

जब दरबारी या क्लासीकल संस्कृत साहित्य का समय आया तो सूत्र-साहित्य के दिन बीत चुके थे । एक-एक समस्या को लेकर ग्रन्थ पर ग्रन्थ बनने लगे, प्रायः एक सिद्धान्त के खंडन या मंडन के लिये पुस्तक लिखना आचार्य-कर्म माना जाता था । लक्षण-ग्रन्थों की भरमार का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि नवीन साहित्यिकों के हाथ बँध गये, और न केवल कला पर ही प्रत्युत अनुभूतियों तक पर नियन्त्रण कर लिया गया । नायक में क्या क्या गुण होंगे, नायिका किस भाषा को बोलेंगी, राजा का साला किन-किन वृत्तियों में फँसा रहेगा, संग्राम स्त्री के निमित्त होगा या अन्य किसी कारण से, युद्ध का अन्त क्या होगा, तथा इसी प्रकार के दूसरे प्रश्नों का उत्तर आचार्य ही देगा, कवि को इनमें स्वतन्त्रता नहीं । सर्ग, छंद, वर्णन आदि का नियमन सह्य भी हो सकता है परन्तु भावजगत को बिजली के तारों से घेर कर सरकस की सी कलाबाजी दिखलाने का कुफल यह हुआ कि चित्रण व्यक्तिप्रधान न होकर वर्गप्रधान होगया—कला व्यापक विश्व से हटती हटती एक कलाभवन में बंद होगई । यही सभी कलाओं का चरम उत्कर्ष तथा उनका हास-विन्दु भी है ।

यह कहना उचित नहीं कि हमारे यहाँ पुस्तकाकार समालोचना का अभाव था, क्योंकि एक-एक विषय को लेकर जितनी ग्रन्थरचना हमारे यहाँ हुई, उतनी अन्यत्र कदाचित् ही हुई हो । परन्तु भारतीय आचार्य लक्षण ग्रंथों की ही रचना करते थे, एक कवि या एक काव्य को लेकर एक पोथा लिख देना उनको रुचिकर न था । कारण दो थे । प्रथम यह कि आचार्य लोग किसी को उछालने या गिराने में कौशल न

समझते थे, और द्वितीय यह कि उस समय मौलिकता के बिना ही सुनी-सुनाई बातों को लेकर परीक्षोपयोगी नोट लिखना समालोचना या आचार्य कर्म न समझा जाता था। हिन्दो में “एक अध्ययन”, “एक परिचय”, “एक भूमिका”, “एक समीक्षा”, तथा “एक दृष्टि” की जो बाढ़ आई है उसका श्रेय नवीन युग को ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पश्चिम ने एक और भी विशेषता हिन्दी साहित्य को दी है। यह मानकर कि साहित्यिक को समझने में उसके व्यक्तित्व का अध्ययन अत्यन्त सहायक होता है नया आलोचक उसकी विचार-धारा से ही तृप्त न होकर उसके स्थूल जीवन पर बड़ा ध्यान देने लगा है। पुराने कवियों के विषय में इन प्रश्नों पर बड़ी सिरखण्पी की जाती है कि जन्म तथा मरण की तिथियां क्या हैं, जन्मस्थान कौनसा है, जाति और गोत्र क्या थे, पिता का क्या नाम था, पत्नी कैसी मिली आदि, आदि। एक सूर को अंधा सिद्ध करता है, तो दूसरा तुलसी को सोरों (शूकरक्षेत्र) का निवासी, तीसरे की झान-बीन इसी झगड़े को लेकर है कि मीरा ने तुलसी को पत्र लिखा था या नहीं। आधुनिक साहित्यिकों को लेकर उनके मकान का नम्बर नोट करने वाले और उनके बच्चों की आयु का ठीक ठीक हवाला देने वाले आलोचक प्रगतिवादी कहे जाते हैं—एक प्रसिद्ध विद्वान् ने अपनी नवीन पुस्तक में ✽ यही दिखला कर पाठकों को चकित कर दिया है कि जिन साहित्यिकों को हम इतना महान् कहते हैं उनमें कौन-कौन सी दुर्बलताएं थीं; और भूमिका में इस कदम को, यूरोपीय समालोचना-पद्धति से अनुमोदित होने के कारण, एक नवीन प्रकाश माना है। इस प्रकार के कदम साहित्य को कहां तक हितकर होंगे इसका निर्णय भविष्य के गर्भ में है।

रासो-काव्य-शैली

हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक दिनों में राजपूत राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने एक विशेष प्रकार के काव्य लिखे जिनके अन्त में प्रायः “रासो” शब्द जुड़ा रहता था। विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि ‘रासो’ शब्द का वास्तविक अभिप्राय क्या है, परन्तु अधिकतर लोग यह मानने लगे हैं कि ‘रासो’ शब्द का संबन्ध ‘रस’ शब्द से है। ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार मुसलमानों के विलासी वातावरण में ‘रस’ का अर्थ ‘शृंगार रस’ मात्र रह जाने से “रसिक” का अर्थ “शृंगारी या विलासी” बन गया था और उसी ‘रसिक’ के एक और सघन रूप “रसिया” से ‘लंपट व्यक्ति’ या ‘लंपटता से भरा हुआ काव्य’ समझा जाता था, उसी प्रकार ‘रासो’ काव्य मुसलमानों के आगमन से पूर्व के उस उदात्त वातावरण की उपज है जिसमें त्याग तथा उत्साह को सर्वोपरि मानकर वीररस—मात्र को काव्योपयोगी रस समझा जाता था। रस को इस विशेषता पर इतना अधिक आग्रह किया जाता है कि “वीरसलदेव रासो” जैसे काव्य में वीररस की वह प्रवृत्ति न होने के कारण कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि इस प्रकार के काव्यों को ‘रासो’ न कहना चाहिए।

यदि रस की दृष्टि से देखा जाता है तो इन काव्यों की एक महत्त्वपूर्ण देन स्पष्ट हो जाती है भारतीय साहित्य में इतना वीर रस अन्यत्र मिलता ही नहीं, शैली की दृष्टि से भी इन काव्यों की एक मौलिकता है जो किसी देशी परम्परा का फल है, दरबारी संस्कृत साहित्य का दाय नहीं। संस्कृत में प्रबन्ध काव्य को लिखने की यह प्रणाली थी कि सारी कथा को काण्ड सर्ग या अध्यायों में इस प्रकार विभक्त कर दिया जाता था कि नायक—नायिका के जीवन में कालक्रम का निर्वाह हो सके, अर्थात् कवि नायक (अथवा नायिका) के जन्म से लेकर आगे की घटनाओं का

क्रमशः वर्णन करता जाता था, सारी कथा के कुछ भाग हो जाते थे, प्रत्येक भाग का नामकरण (यदि कवि ने आवश्यक समझा तो) भागविशेष की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पर हो जाता था, रामायण में बालकांड, अयोध्याकांड, आदि का इसी प्रथा पर नामकरण किया गया है, और रघुवंश में कथा का सर्गों में विभाजन भी इसी आधार पर है। रासों काव्यों में ऐसा नहीं होता। इनकी कथा प्रत्येक घटना-स्थल के आधार पर अपना नया 'खंड' या 'समय' प्रारंभ करती है, भले ही एक 'खंड' (या 'समय') केवल कुछ ही छन्दों में पूरा हो जावे और दूसरे 'खंड' में कथा अनेक पृष्ठों और सैकड़ों छन्दों तक चलती जावे। फल यह है कि "परमालरासो" ३६ खंडों में विभक्त है और "पृथ्वीराजरासो" ६६ समयों में; तथा जहाँ 'अल्हजनयचन्द प्रसंग खंड' केवल २ पृष्ठों में है वहाँ 'जयचन्द मिलाप खंड' १०१ पृष्ठों में (परमालरासो)।

यदि हम कथा के इस विभाजन को संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रकाश में देखते हैं तो सारा भेद स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत में महाकाव्य के लिए मध्यम विस्तार के (सभी लगभग बराबर) आठ से अधिक सर्गों की अपेक्षा है, यदि कथा में एक नायक का वर्णन न होकर एक पूरे वंश का वर्णन हुआ (जैसा कि 'रघुवंश' में है) तो सर्गों की संख्या २० के आसपास भी देखी गई है। परन्तु न तो यह मिलता है कि सर्गों के विस्तार में इतनी विषमता हो और न सर्गों की संख्या ६६ तक पाई जाती है—आश्चर्य तो यह है कि रासोकाव्य केवल एक राजा के यशोगान में उतने सर्ग (खंड) लगा देते हैं जितने का साहस एक पूरे वंश का वर्णन करनेवाले संस्कृत महाकाव्य भी न कर सके। विद्वानों ने इस विषमता को रासो काव्यों का एक दोष माना है परन्तु

१—नातिस्वरूपा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।

(साहित्यदर्पण)

हमारा बिचार है कि जो दोष सभी में पाया जावे उसको उनका विशेष लक्षण समझना चाहिए ।

अब रासो काव्यों की इस विशेषता को परवर्ती सूफी प्रेमकाव्यों की तुलना में देखिए जो यह स्पष्ट हो जायगा कि जायसी के 'पद्मावत' में कथा का जो 'खंडों' में विभाजन पाया जाता है उसमें रासो काव्यों की इसी परम्परा का निर्वाह है । यहां भी एक ही नायक का वर्णन ५७ परिच्छेदों में है और प्रत्येक को "खंड" ही नाम दिया गया है, यहां भी खंडों के विस्तार में अद्भुत विपनता है, यहां भी संस्कृत महाकाव्य-परम्परा की अवहेलना है । ऐसा जान पड़ता है कि 'पद्मावत' (तथा उस परम्परा) में भी रासो काव्यों की शैलीविषयक परम्परा का ही निर्वाह है, जिसको पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संस्कृत की महाकाव्य परम्परा से भिन्न देखकर "मसनवी शैली" कह दिया है ।

रासो काव्यों की दूसरी ध्यान देने योग्य विशेषता वह है जिनके कारण इनके कलेवर में इतना विस्तार हो जाता है, मेरा अभिप्राय वर्णनों की अधिकता से है । नायक के जीवन में जितनी भी घटनाएं आती हैं उनका इतना व्यापक तथा विस्तृत चित्रण मिलता है कि धैर्यहीन पाठक कभी कभी तो तंग आजाता है । दरबारी या क्लासीकल संस्कृत साहित्य में भी लम्बे-लम्बे वर्णनों की प्रथा थी और वाण्य कवि को प्रसिद्धि लम्बे वर्णनों से ही विशेषतः मिलती है । परन्तु रासो काव्यों के वर्णन एक नवीनता के द्योतक हैं । कादम्बरी में वर्ण्य विषय तो केवल "उज्जयिनी नाम नगरी" या "अच्छोदं नाम सरः" ही है, परन्तु उसके वर्णन के लिए अप्रस्तुत सामग्री इतनी अधिक इकट्ठी की जाती है कि पढ़ते चले जाइये आपके धैर्य का अन्त होजायगा किन्तु उस वाक्य का नहीं । इन रासो काव्यों में अप्रस्तुत सामग्री को एकत्र करने का प्रयत्न नहीं किया गया प्रत्युत प्रस्तुत सामग्री ही इतनी

अधिक है कि आप उसकी सूची-मात्र बनाकर एकत्र करने वाले के तद्विषयक ज्ञान और अनुभव पर चकित हो उठेंगे। यदि रणभूमि है तो कवि आपको यह बतलावेगा कि किस किस देश से सेना आई और प्रत्येक सेनापति का क्या नाम और रूप है, घोड़े किस-किस जाति के हैं, कितने-कितने हैं, और प्रत्येक जाति के उनमें क्या-क्या लक्षण पाये जाते हैं। यदि भोजन का वर्णन है तो क्रमशः एक-एक पकवान परोसते जाइये और साथ ही उस पकवान का गुण-कीर्तन भी सुनते जाइये, किस देश के निवासियों को अधिक रुचिकर है, किस ऋतु में अधिक अच्छा लगता है, बनाने में कौन लोग अधिक दक्ष होते हैं आदि आदि। इन सूची-प्रधान वर्णनों को पढ़ कर संस्कृत के उन प्राथमिक ग्रन्थों का ध्यान आ जाता है जिनमें कला का विकास कम मिलता है और फलतः जिनको साहित्यिक 'महाकाव्य' न कहकर 'आर्ष ग्रंथ' कहा जाता है। कहने को तो वाल्मीकीय रामायण में केवल ७ काण्ड हैं, परन्तु प्रत्येक काण्ड में कई-कई सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग का एक विशेष नाम भी है। वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नाम गिनाने की प्रवृत्ति भी रामायण तथा महाभारत में पाई जाती है। ❀

इस विशेषता का रहस्य रासो काव्यों का प्राण है। बात यह है कि रासो काव्यकार कोरे कवि ही न थे वे जिन बातों का वर्णन करते थे वे उनकी अनुभूत होती थीं। यह संभव है कि कवि ने जिस युद्ध का वर्णन किया है उसमें किसी कारणवश वह स्वयं न जा पाया हो परन्तु उस प्रकार के दूसरे युद्ध में उसकी उपस्थिति निर्विवाद है, इसमें भी सन्देह नहीं कि बहुत सी बातें उसकी अनुभूत न होकर प्रतिभाजनित या कल्पना से उत्पन्न भी रही होंगी। अस्तु, रासो-

❀ देखिए हमारे “हिन्दीसाहित्य का आलंकारिक प्रवृत्तियाँ” ग्रंथ में “वीरकाव्य (काव्य-परम्परा)” अध्याय ॥

काव्यों की एक तीसरी विशेषता यह होगई कि इन काव्यों का 'सत्य' संकुचित न होकर व्यापक है, उसमें 'कवि के सत्य' के ही साथ-साथ 'इतिहासकार का सत्य' भी झलकता है, इन काव्यों की घटनाएँ भावना-जगत् में तो सच्ची हैं ही यथार्थ-जगत् में भी नितांत मिथ्या नहीं हैं। पाठक पर इस सत्य का प्रभाव दो रूपों में पड़ता है। प्रथम तो यह कि बहुत से विद्वान् इन रासो काव्यों को इतिहास समझ बैठे और ऐसे प्रश्नों पर वाद-विवाद होने लग गया कि पृथ्वीराज रासो प्रामाणिक है या जाली, मैं नहीं समझता कि जब कल्पना का प्रत्येक कवि को इतना अधिकार है कि वह हनुमान के लंबी पूंछ और रावण के दस शीश दिखला सकता है तो इन बेचारे रासो काव्यकारों ने क्या बिगाड़ा है जो इनको अनेक युद्धों और अनेक विवाहों की कल्पना की आज्ञा भी न दी जावे। पाठक पर दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि जिन वस्तुओं का इन काव्यों में वर्णन है उनका सूक्ष्म ज्ञान न होने के कारण वह यह समझता है कि वह अपना समय नष्ट कर रहा है, ठीक भी है बाण के समय में संस्कृति के जो उपकरण थे उनका चित्र उनकी कादम्बरी में मिलता है और राजपूतकाल की संस्कृति का रासो काव्यों में परन्तु आज की संस्कृति उन दोनों से ही उदासीन बनकर उनको व्यर्थ का बोझ समझती है। हम अपने पाठकों का ध्यान केवल दो बातों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, प्रथम तो यह कि यथार्थ-वाद की पुकार आज भी साहित्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण की आवश्यकता समझ कर (कम से कम एकांकी नाटक कहानी और उपन्यासों में तो अत्यधिक ही) निर्जीव सत्य की अभिलाषिणी है—एक कमरे का वर्णन करते समय उसमें सजी हुई वस्तुओं को बनाने वाले फर्मी तक का नाम भी किसी न किसी रूप में दे दिया जाता है। दूसरी बात यह है कि इन वर्णनों को पढ़ कर इन काव्यों को इतिहास मत समझिए प्रत्युत कवि की सचाई तथा तत्परता का अनुभव कीजिए, तभी इनके प्रति न्याय हो सकेगा।

निर्जीव या ऐतिहासिक सत्य वाली यह विशेषता एक आलंकारिक शैली की भी जन्मदात्री बन गई है। रासो काव्यों में जहां शृंगार आदि ऐसे रसों का वर्णन है जो दरबारी संस्कृत साहित्य में अपनी धाक जमाये हुए थे, वहां अप्रस्तुत सामग्री उसी परम्परा से आई है; परन्तु वीररस के वर्णनों में उनकी अपनी मौलिकता स्पष्ट झलकती है। कवियों ने उत्प्रेक्षा तथा अत्युक्ति दो अलंकारों से सहायता ली है। ऐसे स्थलों पर उत्प्रेक्षा की सामग्री का उद्गम साहित्यिक परम्परा या अध्ययन से न होकर प्रत्यक्ष अनुभव से है; फलस्वरूप ये वर्णन पाठक के सामने एक स्पष्ट चित्र भी अंकित कर देते हैं और अभीष्ट भाव व्यंजना में भी पूर्ण सफल हैं :—

“लगै सेह छत्ती समस्ती बनारे । मनौ जावकं माठ कीनै पनारे ॥

बहै तेग कंधं करै सोस न्यारे । परै दुट तरबूज धरनी पसारे ॥”

(परमाल रासो)

सेह के लगने से महावीरों का वक्षस्थल भग्न हो जाता है और रक्त इतनी गति से बहने लगता है मानो रंगरेज के माठ के टूटने पर नालियों में होकर महावरी रंग बह रहा हो—इस वर्णन में रक्त की घोर लालामी, रक्त का आधिक्य तथा दृश्य की बोभत्सता तथा भयानकता की सफल व्यंजना है। ध्यान देना होगा कि कवि का ध्यान रूपसादृश्य तथा आकारसादृश्य पर तनिक भी नहीं है। आगे उसने शीशों के कटकर पृथ्वी पर गिरने की निर्ममता तथा फुर्ती की व्यंजना तरबूज के टुकड़ों के गिरने से कराई है, जहां रंगसादृश्य है परन्तु आकार आदि की समानता नहीं।

इन उत्प्रेक्षाओं में भी कवि का ध्यान कुछ अद्भुतपन दिखलाने की ओर रहा है और अन्यत्र भी उसने चित्रात्मक अत्युक्तियों के लिए ऐसा ही प्रयत्न किया है। इस युग में अत्युक्तियां दो प्रकार की होती थीं। प्रथम तो वह जिनमें “आठ सहस नेजा-धणी। पालखी बैठा सहस पचास ॥” कह कर संख्या गिनाई जाती थी, दूसरी वह

जिसमें पहिले वर्णन किया जाता था फिर कवि उसके चित्र को दिखलाता था :—

(१) गिरहं उडी भान अंधार रैनं ।

गई सुधि सुझै नही मज्झि नैनं ॥

(२) लोहान तनी बज्जे लहरि, कोउ हल्लै कोउ उत्तरै ।

परनाल रुधिर चल्लै प्रबल, एक घाव एकह मरै ॥

इस प्रणाली को हम 'चित्रात्मक अत्युक्ति' कह सकते हैं, और दूसरी को 'संख्यात्मक अत्युक्ति' । हिन्दी में संख्यात्मक अत्युक्ति का तो निर्वाह जायसी आदि में मिलता है, परन्तु एक उत्तम प्रणाली—चित्रात्मक—आगे देखने में नहीं आती ।

विद्वानों ने रासो काव्यों की भाषा पर विचार करते हुए उसको बनावटी बतला दिया है, कारण यह कि उसमें एकरूपता नहीं—एक ही काव्य में दो नितान्त भिन्न प्रकार की भाषाएं दिखलाई पड़ती हैं । परन्तु यही तो इन काव्यों की विशेषता है, स्थल के अनुरूप भाषा बदलती है, शृंगार में एक तो युद्धस्थल में दूसरी, कहीं संस्कृत मिश्रित तो कहीं ठेठ अपभ्रंश, कहीं विदेशी शब्दों के छींटे तो कहीं ठेठ देशज शब्दावली । एक दूसरा रहस्य भी है कि इन वीरकाव्यों में शब्दध्वनि का विशेष महत्व है, शब्द का क्या रूप है यह कोई नहीं पूछता, किन्तु शब्दमें ऐसी ध्वनि निकले कि सुनने वालों में तत्काल अभीष्ट भाव का संचार हो जावे । सुदन कवि ने तो “तड़-तत्तरं, तड़-तत्तरं; कड़-कक्करं कड़-कक्करं” लिखकर यह बतलाया है कि जो काव्य रणक्षेत्र में गाया जाता है उसका शब्दध्वनि ही प्राण है; अर्थ तक जाने का वहां समय नहीं । रासो काव्यों में भी अनुस्वारांत, द्वित्वप्रधान एवं कठोर वर्णों की अधिकता इसी बात की सूचना देती है । ऐसा जान पड़ता है कि

तलवारों को खटखट, घोड़ों की टप-टप और बाजों की धड़ धड़ के स्वर में स्वर मिलाने वाले शब्द जान बूझ कर प्रयुक्त किये गये हैं। ऐसे स्थलों पर शब्दों की वह विशेषता स्पष्ट झलकती है जिसको अलंकारशास्त्री “ध्वन्यर्थ व्यंजना” कहते हैं, रासो काव्यों में यह प्रवृत्ति वीररस के समय तो प्रसिद्ध है ही, शृंगार में भी दिखलाई पड़ती है। हां, वीररस में कर्कश ध्वनियों से और शृंगार में मधुर ध्वनियों से अभीष्ट अर्थ की व्यंजना उस युग को ध्वनिप्रियता को सकारण लक्षित कर देती है :—

(१) भभकै भभकै बहै रक्तधारं ।

सनकै सनकै बहै बान भारं ॥

(२) झनन झननं भय नृपुरयं ।

खननं खन चूरिय भूरि भयं ॥

(परमाल रासो)

रासोकाव्यों की शैली इतनी मौलिक तथा यथार्थ है कि पाठक का ध्यान परम्परा के अनुशासन से एकदम विरक्त होकर इसकी ओर आकर्षित हो जाता है, इन कवियों का विश्वनिरीक्षण इनको लीकपीटने वालों से सहज ही ऊंचा उठा देता है। साथ ही काव्य का प्रत्यक्ष प्रभाव पाठक पर यह पड़ता है कि वह एकदम चौकन्ना हो जाता है। इन काव्यों की एक अपनी टेकनीक थी जिसका आगे भी निर्वाह हुआ। अत्युक्ति तथा उदात्त अलंकारों की सामग्री आगे चलकर सूफियों के बहुत काम आई। गीतकाव्यों में ध्वनि की विशेषता के साथ पाठक को आश्चर्यान्वित करने की भी प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है, ‘आलखंड’ में ऐसे बहुत से स्थल हैं जिनका विश्लेषण कर अर्थ जानने की इच्छा से सारा गुड़ गोबर हो जावेगा, परन्तु बिना विश्लेषण के पढ़ने पर एक

आश्चर्यपूर्ण आनन्द मिलता है (जिसमें असत्य का ही राज्य है, इसमें संदेह नहीं) :—

(१) आल्हा ऊदल की खिचड़ी मों, परगै सवालाखंमनहींग ।

(२) भैंस बियानी जो कनउज मों, पंडरा गिरा महोबे जाय ॥

प्रथम उदाहरण को अत्युक्ति कहना और दूसरे को असंगति कहना, अलंकारशास्त्र का न समझना होगा, वस्तुतः इस प्रकार के उदाहरण केवल “रमे मारश्चमत्कारः” के ही समर्थक हैं ॥

अंतिम बात रासो युग के गीतकाव्यों के विषय में है । गीतों में सूक्तियों की ओर वह झुकाव मिलता है जिसका विकास आगे सूक्ति साहित्य के रूप में दिखलाई पड़ा । सामान्य पाठक वर्णन की अपेक्षा सूक्तियों का अधिक प्रेमी है इसीलिए ग्रामगीतों का एक प्रधान क्षेत्र सूक्तियों से भरा है । ‘आल्हाखंड’ में भी सूक्तियां अनेक हैं, परन्तु “वीसलदेवरासो” के गीतों में ये गम्भीरता की विशेष ओतक बन गई हैं । (आगे चलकर सूफीकाव्यों में इस परम्परा का पर्याप्त निर्वाह हुआ ।) रानी राजमती निष्ठुर राजा के विरह में “पुरषि समौ नहीं निगुण संसार” कहती हुई पुरुषजाति पर एक आक्षेप करती है और स्वयं पश्चात्ताप करती है कि यदि उसको पुरुषजाति की निष्ठुरता का पता होता तो अपने पिता से कहती कि वह विवाह न करेगी और आजोवन कुमारी रह कर महनत मजदूरी में अपना जीवन काटेगी :—

भूली है बड़हनड़ी ! ईणै वीसास;हूँ नीव जाणू औलंगि जास^१ ।

बरजती बाप रखावती ब्याह, अंकन-कुंवारी^२ रहती सखी ।

^३ओठण लोवड़ी, काटती झाड़, खेत कमाती जाट ज्यूं ।

माई काई सिरजी उल्लिगांणा धरि-नारि ॥

१—मुझे छोड़कर चला जावेगा।

२—आजन्म अविवाहित ।

३—कम्बल ओढ़ लेती

विद्यापति की राधा

इस बात पर विचार न करते हुए कि विद्यापति के पदों का भक्ति से भी कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं, यदि हम उनकी राधा को सामान्य नायिका के रूप में ही देखें तो भी उसके जीवन में नीरव पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। नायिका-भेद की प्रथा के अनुसार राधा के भी अनेक रूप हैं जिनमें से विद्यापति को उस राधा में अधिक रुचि है जो समाज के बन्धनों को तोड़ती हुई प्रेम की कसौटी पर कसकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करती है, अर्थात् वह स्वकीया की अपेक्षा परकीया अधिक है, प्रौढ़ा की अपेक्षा मुग्धा अधिक है, और खंडिता की अपेक्षा अभिसारिका अधिक है। यदि एक सामाजिक दृष्टिकोण से राधा के इस व्यक्तित्व का अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यौवन की प्रथम उमंग में कुछ फुसलाने वाली स्त्रियों के फेर में पड़कर किसी लम्पट से गुप्त प्रेम करने वाली इस श्रेणी की स्त्रियाँ अपने को अनायास ही मिटा देती हैं और आजन्म अपने किये का फल भोगती रहती हैं :—

कुलकामिनि छलौं, कुलटा भए गेलौं, तिनकर वचन लोभाई ।

अपने कर हम मूँड मुडाएल, कानु से प्रेम बढ़ाई ॥

राधा रूप-सौन्दर्य में तो अद्वितीय थी ही यौवन की रमणीय

किरणों से वह और भी निखर उठी और सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, उसको इस बात का पता भी था कि वह रूप तथा यौवन में अभूतपूर्वा है इसलिए वह अपनी इस सम्पत्ति से संसार को नीचा दिखाना चाहती थी। यही उसकी भूल थी। उसके इस मन्तव्य को कुट्टिनियों ने ताड़ लिया और उसको एक अच्छा शिकार समझ कर उसकी मित्र बन गई। शनैः शनैः दूती ने राधा के ऊपर हाथ रखा और उसको यह बतलाया कि 'कान्ह' नाम का व्यक्ति उसके रूप सौन्दर्य का भक्त होता जा रहा है। राधा को मन में बड़ा हर्ष हुआ वह उस 'सखी' पर बिगड़ी नहीं, प्रत्युत 'मन-मन भावै, सीस हलावै' वाली कहावत को चरितार्थ करती हुई उस दूती से हँसकर बोली :—

“गोकुल नगर कान्हु रति-लंपट, जौवन सहज हमारा ।

तु हु सखि रभसि मोहे जनि बोलबि लोक करव पतियारा ॥”

दूती को विश्वास हो गया कि राधा को अपने 'सहज यौवन' का गर्व है, वह कान्ह को 'रति-लंपट' भी जानती है, और उसे इस राधा-कान्ह-सम्बन्ध में अस्वाभाविकता भी नहीं जान पड़ती (लोक करव पतियारा)। राधा ने कान्ह की बुराई अवश्य की परन्तु उसकी महत्ता और उसके पात्रत्व को स्वीकार करते हुए। दूती को प्रथम पदन्यास में सफलता मिली। उसने राधा के रूप की भरसक प्रशंसा की और कान्ह के पात्रत्व की उस बात को जो राधा के मन में अभी कच्ची ही थी, ठोक-पीटकर पक्का कर दिया, 'इसे तुम अपना सौभाग्य ही समझो राधा कि जिस कान्ह को प्राप्त करने के लिए संसार की सुन्दरियां तड़पती रहती हैं वही कान्ह तुम्हारे प्रेम में विभोर हैं':—

“धनि धनि रमनि जनम धनि तोर ।

सब जन कान्हु कान्हु करि झूरए, से तुअ भाव विभोर ।”

राधा कुलकामिनी थी इसलिए उसके मन में द्वन्द्व चलने लगा,

एक ओर कान्ह जैसे पारखी की प्रेम-याचना थी, दूसरी ओर कुलधर्म फिर यह चोरी, और कान्ह ने स्नेह का निर्वाह न किया तो ? राधा कुछ निश्चय न कर सकी । दूती इस अवसर को कब हाथ से जाने दे सकती थी ? उसने राधा को समझाया कि संसार में एक ही वस्तु सार है, और वह है यावज्जीवन स्नेह, उसका श्रीगणेश कुछ क्षणों के संगम से होता है:—

एहि संसार सार वथु एक ।

तिला एक संगम, जाव जिव नेह ॥

और कुलधर्म, वह तो कच्चा काँच है जिसमें दिखावा तो है परन्तु मूल्य कुछ भी नहीं, क्यों न कामदेव रूपी दलाल की कृपा से इस तुच्छ वस्तु के बदले में एक अमूल्य वस्तु (यावज्जीवन स्नेह) प्राप्त करली जावे:—

कुलवति धरम काँच समतूल ।

मदन-दलाल भेल अनुकूल ॥”

रही चोरी की बात, सो वही तो स्नेह का स्रोत है यदि चोरी न हो तो फिर वह तो एक साधारण व्यवहार हो गया उसमें स्नेह कहाँ रहा :—

अधिक चोरी पर-सथँ करिअ,

एहे सनेह क सोत ।”

तुम सोचती होगी कि विपत्तियों के आने पर कान्ह से प्रेम का निर्वाह हो सकेगा अथवा नहीं, यह तुम्हारी भूल है । सुजन तथा कुजन के प्रेम में यही अन्तर है, सुजन का प्रेम स्वर्ण के समान होता है जिसको जितना ही गरम किया जावे उतना ही वह बढ़ता जाता है :—

“सुजन क प्रेम हेम समतूल ।

दहइव कनक दिगुन होय मूल ॥”

अन्त में दूती ने राधा को एक झटका दिया और उसके गर्व पर मोठा प्रहार करती हुई उसको यौवन का रहस्य समझाने लगी .. यौवन की प्रथम उमंग में गर्व ही अधिक होता है और प्रायः गुणी ग्राहक के आजाने पर भी उससे सौदा नहीं किया जाता, उसको बिना बात किये ही लौटा दिया जाता है । परन्तु यौवन ढल जाता है और फिर लौटकर नहीं आता, तब केवल हाथ मलते ही रह जाना पड़ता है । मैं भी एक दिन तेरे ही समान गर्विणी थी, जिसका आज फल भोग रही हूँ और अपने अनुभव से त्मको समझाती हूँ कि यौवन तथा रूप की यही शोभा है कि किसी अधिकारी को यह सौंप दिया जावे :—

“ प्रथम सिरीफल गरब गमओलह
जौं गुन-गाहक आवे ।
गेल जौवन पुनु पलटि न आवए
केवल रह पछतावे ।
सुन्दरि, बचन करह समधाने ।
तोहि सनि नारि दिवस दस अछलिहुँ
ऐसन उपजु मोहि भाने ।
जौवन रूप तावै धरि छाजत
जावै मदन अधिकारी ॥”

जाते-जाते दूती एक बात और कह गई कि सखी बुरा मतमानना निर्णय तुम्हें करना है मुझको नहीं, परन्तु ध्यान रखना कि किसी कार्य का यदि अन्त भला है तो वह कार्य भी भला माना जाता है, और संसार में अन्त का यश तथा अपयश ही रह जाता है (पिछले इतिहास को कोई नहीं पूछता) :—

“ भल मँद जानि करिअ परिनाम ।

जस अपजस दुइ रहत ए ठाम ॥”

दूतो तो चली गई परन्तु राधा अपने मन में “गैल जौवन पुनु पलट न आवए, केवल रह पछितावे” को ही दुहराती रही। अन्त में उसके मन में काम की हिलोरे उठने लगीं और उसने न कुलधर्म की चिन्ता की न यश-अपयश की, वह अपने स्वाभाविक सौकुमार्य की भी उपेक्षा करती हुई अभिसार करने लगी :—

“तपन क ताप तपत भेल महितल

तातल बालू दहन समान ।

चढ़ल मनोरथ भामिनी चलु पथ

ताप तपत नहि जान ।

प्रेम क गति दुरबार ।

नबिन जौवन धनि, चरन कमल जिनि,

तइओ कएल अभिसार ।

कुल-गुन-गौरव सति-जस-अपजस,

तृन करि न मानए राधे ।

मन मधि मदन महोदधि उछलल,

बूडल कुल-मरजादे ॥”

कुछ ही दिनों में हम राधा को “केलि-कलावती” के रूप में देखते हैं। वह मानो अपने जीवन का स्वर्ग पा गई, उसका यौवन सफल हो गया :—

“सुखद सेजोपरि नागरि-नागर बइसल नव रति-साधे ।

प्रति अंग चुंबन, रस अनुमोदन, थर-थर कांपए राधे ॥”

परन्तु यह सुखभोग कितने दिन चल सकता था ? कान्ह तो “रति-लंपट” था ही, जब तक राधा का रूप-यौवन रहा (वह भी कुछ

ही दिन तक रह सकता था) कान्ह ने राधा को आदर दिया :—

“जौवन-रूप अछल दिन चारि ।

से देखि आदर कएल मुरारि ॥”

परन्तु फिर वह राधा के पास आने भी नहीं लगा । कितनी दुःखद परिस्थिति है कि दोनों एक ही नगर में रहते थे और राधा उससे मिलने भी जाती थी परन्तु वह निष्ठुर कभी भेंट ही न करता था । अभागिनी कर ही क्या सकती है ? नेत्रों में अश्रु आते हैं परन्तु उनको छिपाना पड़ता है, जो प्रेम गुप्त है उसका पश्चात्ताप भी गुप्त ही करना पड़ेगा, बेचारी संसार के सोजाने पर फूट-फूटकर रोने लगती है :—

“जामिनि आध अधिक जब होइ ।

बिगलित लाज उठए तब रोइ ॥”

अंत में वह रोदन भी छिपा न रह सका, नेत्रों से नीर बहना बढ़ता ही गया, रूप में क्षीणता आती गई, शरीर जर्जर हो गया, दीना चलने-फिरने में भी असमर्थ होगई, यही उसके रूप-यौवन का अंत होना था :—

“तनु भेल जरजर, भाभिनी अन्तर

चित बाढल तसु प्रीत ।

नयन क नीर थीर नहिं बांधइ

पंक कएल महि रोइ ।

अवनि उपर धनि उठए न पारइ

धएलि भुजा धरि दीना ॥”

आज वह ‘सखी’ भी दिखलाई नहीं पड़ती । राधा के आंसू और पौछ ही कौन सकता है ? राधा सोचती थी सखी को बुरा-भला कहेगी, परन्तु एक दिन वह दूती जब उसको मिली तो राधा उसको दोष न दे सकी । क्या पता दूती बात को और भी बढ़ादे और राधा का संसार

को मुंह दिखाना भी कठिन हो जावे। उसके मन से न रहा गया उसने कहा 'मैंने तेरे कहने पर अमृत के धोखे में विष-पान किया है,' परन्तु साथ ही अपनी भूल भी स्वीकार की—'यह विषपान मैंने आंखों देखते ही किया था':—

“तोहर वचन सखि, कएल आँखि देखि,

अभिय भरम विष-पाने ॥”

अथवा नुस्हारा इसमें क्या दोष ? प्रेम का अंत ही बुरा होता है, मैं पहिले न समझी थी कि जो लोग मधु के समान मीठे वचन बोलते हैं उनका हृदय वज्र के समान कठोर हो सकता है इसलिए मैंने अपने को एक कुपात्र के हाथ में सौंपकर अपने गर्व को मिट्टी में मिला दिया, वस्तुतः प्रेम का परिणाम ही दुःखद है :—

“मधु सम वचन कुलिस सम मानस

प्रथमहिं जानि न भेला ।

अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल

गरुअ गरब दुर गेला ॥

सखि, हे मन्द प्रेम परिनामा ॥”

दूती ने कान्ह से भी कुछ कहा या नहीं, और राधा के प्रेम-विच्छेद में दूती का अधिक दोष है या कान्ह का—इन समस्याओं पर विचार करना व्यर्थ है। क्योंकि जहां तक दूती का सम्बन्ध है उसका तो व्यवसाय ही राधा जैसी रूप-यौवन-गर्विणी मुग्धाओं को फंसाना है, और कान्ह 'रत्नि-लंपट' था ही इसे राधा भी जानती थी। परन्तु ध्यान इस बात पर जाता है कि पुरुष तथा स्त्री में से कोई भी धोखा दे, उसका कुफल स्त्री को ही भोगना पड़ता है। कारण कुछ-कुछ प्राकृतिक है, प्रकृति ने नारी को जितना कोमल और जितना आकर्षक बनाया है उतनी ही वह असहाय भी है, समर्पण उसकी निवृत्ति है और मौन-

रोदन उसका बल । दूसरी ओर पुरुष स्वभावतः ही स्वच्छन्द है, वह जो कुछ करता है अपने बल पर करता है और पश्चात्ताप उसका स्वभाव नहीं, उसके यहां हृदय को कोई स्थान नहीं, वह शक्तिजीवी है । पुरुष के ऊपर यदि कोई बन्धन सफल हो सकता है तो वह समाज का ही बन्धन है क्योंकि उसको उसी के समान अनेक पुरुषों ने बनाया है, इसलिए उसमें उस अकेले की शक्ति की अपेक्षा अधिक बल है ।

महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक में शकुन्तला के दुर्भाग्य का चित्र खींचकर यह बतलाया है कि गुप्तप्रेम में सदा एक आशंका रहती है इसलिए परीक्षा के बिना कोई भी रमणी किसी पुरुष से इस प्रकार का प्रेम न करे :—

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं, विशेषात्संगतं रहः ।

अज्ञातहृदयेष्वेवं, वैरीभवति सौहृदम् ॥”

विद्यापति ने भी राधा का असफल प्रेम अवसादान्त दिखलाकर मानो नारी-जगत् को चेतावनी दी है कि समाज के बन्धनों की अपेक्षा करके गुप्त प्रेम मत करो अन्यथा सारा जीवन राधा के समान रो-रो कर ही काटना पड़ेगा । महाकवियों की वाणी उपेक्षित चली आती है और आज भी केवल अपने ही अनुभव से सीखने को उद्यत ललनाओं का करुण क्रन्दन मूक स्वर में तड़प-तड़प कर कहता हुआ सुनाई पड़ता है :—

“कबहु रसिक सँय दरसन होय जुनु, दरसन होए जुनु नेह ।

नेह बिछोह जुनु काहुक उपजए, बिछोह धरए जुनु देह ॥

सजनो, दुर करु ओ परसंग ।

पहलहि उपजइत प्रेमक अंकुर दारुन विधि देल भंग ॥

दैवक दोष प्रेम जदि उपजए, रसिक सँय जुनु होय ।

कान्ह से गुपुत नेह करि अब एक, सबहु सिखाओल मोय ॥”

सूर सूर, तुलसी ससी

भक्तिकाल के जो चार स्त्रोत हिन्दी साहित्य में अपनी अमर कीर्ति छोड़ गये, उनमें से जितनी लोकप्रियता सगुण मार्ग पर चलने वाली धाराओं को प्राप्त हुई उतनी निर्गुण मार्ग वाली धाराओं को नहीं। कारण स्वाभाविक था। निर्गुण कवियों ने भगवान् का जो स्वरूप जनता के सामने रखा वह केवल चिंतन का विषय था, अशान्ति के समय मुरझाये मन को हरा-भरा न कर सकता था। इसी हेतु कबीर तथा जायसी को वह ख्याति कभी प्राप्त न हो सकती थी जो सूर और तुलसी को मिली। यदि हम इस मधुरता को ही श्रेष्ठता का लक्षण मानें तो निश्चय ही सूर तुलसी से ऊंचे हैं, उनकी कविता में जो मधुरता कूट-कूट कर भरी है वह संतप्त हृदय को एक सहज शीतल छाया प्रदान कर सकती है। सूर स्वयं माधुर्य भाव के उपासक थे और दीनतापूर्ण जीवन को त्याग कर ज्ञान चक्षुओं की सहायता से महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा दिखाये गये उस मार्ग पर आये थे जिस मार्ग में भगवान् कृष्ण भगवती राधा और सौभाग्यशालिनी गोपियों के साथ नित्य वृन्दावन धाम में स्वच्छन्द रासलीला किया करते हैं। कितना मधुर है रासमय रसिक जीवन ! धन्य है वह मन-मयूर जो उस नित्य रासलीला अखिल प्रकृति के नये-नये क्रियाकलापों-में साक्षीरूप से उपस्थित होकर उसका आनन्द लूटता है।

सूर ने भगवान् के सम्पूर्ण जीवन को काव्य का विषय न बनाया, उन्होंने केवल उन्हीं स्थलों को चुना है जिनमें माधुर्य तथा सौन्दर्य है, विषाद और खिन्नता नहीं। शैशव और यौवन कितने मधुर होते हैं ! कौनसा है वह दुःखी व्यक्ति जो बालकों की नटखट क्रीड़ा को देख कर क्षणभर हँसने का प्रयत्न न करेगा ? कितना रस होता है बालकों के लालन-पालन में :—

“जसोदा हरि पालने झुलावै ।

मल्हरावै दुलराय हलावै, जोइ सोई कछु गावै ।

मेरे लाल को आउ री निदिया, काहे न आनि सुवावै ॥

जिसके सन्तान न हांती हो उसको सौभाग्यवश वृद्धावस्था में एक पुत्र प्राप्त हो जावे और वह भी सारे संसार से निराला, फिर उस माता के उत्साह का क्या ठिकाना ? यशोदा श्याम को कभी गोद में खिलाती है, कभी स्नान कराती हैं, कभी अंगुली पकड़ कर चलना सिखाती है; उसकी हठ से भी तो आनन्द ही मिलता है । कोई रुठने वाला भी तो हो जिसको हम बार-बार मनावें और वह मचलता ही जावे । नंद और यशोदा वृद्ध होते हुए भी बालक बन गये और संसार को खेल खिलाने वाले उस खिलौने से खेलने लगे :—

इत तैं नंद बुलाय लेत हैं उततैं जननि बुलावै री ।

दम्पति होइ करत आपुस में, श्याम खिलौना कीन्हौ री ! ॥

सूर ने वात्सल्य रस के लिए श्याम को घर में देखा है और बाहर भी, पिता के साथ देखा है और माता के साथ भी, परिजनों के बीच देखा है और पुरजनों के बीच भी, वे आदर्श भी हैं और नटखट भी; साथियों से उनको स्पर्धा है, पड़ोसियों को तंग करना उनका स्वभाव है; परन्तु सर्वत्र ही उनके आचरण में एक ऐसी रमणीयता है जिसके कारण सभी उनको अपने पास चाहते हैं । परन्तु राम के शैशव में वह आकर्षण कहाँ ? राम अयोध्या के चक्रवर्ती महाराज के पुत्र हैं, उनके जीवन में राजकुल की मर्यादा का पालन मिलेगा परन्तु वह विनोद और वह खुली नटखटी नहीं दिखलाई पड़ती । जो धर्मसंस्था-पनाय आया हो वह झूठ क्यों बोलेगा और जो राजपुत्र हो उसे अन्य साधारण शिशुओं के साथ मिल कर दाँव देने या लेने की क्या आवश्यकता है ? तुलसी ने राम के शैशव का जो चित्र खींचा है वह शिशु

श्याम के माधुर्य के सामने बिलकुल ही फोका है :—

“प्रात भयो तात, बलि मातु, विधु बदन पर,
मदन बारौ कोटि, उठौ प्रान प्यारे ।
सूत, मागध, बन्दि ददत विरुदावलि,
द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे ।
करतल गहि लजित चाप भंजन रिपु-निकर दाप,
कटितट पट पीत, तून सायक अनियारे ।
उपवन मृगया-विहार-कारन गवने कृपाल,
जननी मुख निरखि पुण्य-पुंज निज विचारे ॥”

वही राजकुल की शुष्क मर्यादा का अन्तरशः पालन, सूतमागधों की विरुदावलि से जगना, फिर राजपुत्रों के साथ मृगया को जाना ! इस बनावटी जीवन में रस कहाँ मिल सकता है ? तुलसी कम प्रतिभा-शाली न थे, परन्तु यहाँ वे सूर की बराबरी न कर सके—उनके भगवान् का स्वरूप ही ऐसा है—वात्सल्य के इस अथाह सागर में डूब कर सूर ने इतने रत्न निकाले हैं कि औरों के हाथ केवल सीपी और घोंघे ही पड़ सके ।

सूर तथा तुलसी दोनों ने अपने काव्यों में शृंगार रस का भी सुन्दर स्त्रोत बहाया है, परन्तु प्रेम का जो स्वाभाविक विकास, जो मधुर विस्तार, और जैसा करुण अंत सूर ने दिखलाया है, वैसा तुलसी ने नहीं । सूर ने यह दिखलाया है कि प्रेम के अन्तर्गत कितने प्रकार की मनोदशाएँ होती हैं—हो सकती हैं, तुलसी ने यह बतलाया है कि उन मनोदशाओं पर किस प्रकार संयम किया जा सकता है । सूर प्रेम का वर्णन करते हैं, तुलसी हृदय के संयम का । राधा और श्याम का मिलन स्वयं एक मधुर प्रसंग है ;—

“खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी ।

औचक ही देखी तहँ राधा, नयन विसाल, भाल दिये रोरी ।

सूर श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥”

अकस्मात् नेत्रों का मिलना और एक दूसरे पर जादू कर जाना कितना स्वाभाविक है, यदि कोई पाप मन में होता तो संकोच होता, लज्जा होती, परन्तु भोली राधिका के मन में कोई दुराव-छिपाव नहीं । जब यशोदा ने उससे कहा कि ‘तू यहां मत आया कर’ तो उस सरला ने जो सहज उत्तर दिया उसमें हलका-सा रोष भी है और प्रबल परवशता भी :—

“बार-बार तू ह्यां जनि आवै ”

“मैं का करौं सुतहिं नहिं बरजति, घर तें मोहि बुलावै”.

मों सों कहत तोहि बिन देखे, रहत न मेरो प्रान ।

छोह लगत मोकौं सुनि बानी, भहरि तिहारी आन ।”

तुलसी ने ‘रामचरित मानस’ में राम और सीता का मिलन भी आकस्मिक दिखलाया है, परन्तु :—

“देखि रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी । सरद ससहि जनु चितव चकोरी ॥
लोचन मग रामहिं उर आनीं । दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥

सीता में समझ है और संकोच है, राधा में भोलापन है और स्वाभाविकता है; एक प्रेम करतो हुई भी छिपाती है, दूसरी प्रेम तो अभी नहीं करती किन्तु जो उसके मन का भाव है उसे प्रकट करने में डरती नहीं । राधा का प्रेम “लरिकार्ई को प्रेम” है, सीता का प्रेम संस्कारों को उपज है । तुलसी में मानो मर्यादा ही हृदय है, सूर में मानो हृदय ही मर्यादा है, तुलसी सामाजिक नियमों के खोखले अनु-शासन के बिना एक पद भी नहीं चल सकते, सूर हृदय को ही समाज का शासक मानते हैं ।

संयोगावस्था में यदि मन में कोई वासना भी होती है तो वह वियोग के कठिन ताप से पिघल कर प्रेमियों के मानस को निर्मल बना देती है। वियोग हमको आत्मविश्लेषण का एक अवसर देता है और कालुष्य-शुद्धि के लिये प्रेरित करता है। गंधा का श्याम से वियुक्त हो जाना एक ऐसा ही अवसर है। गोकुल और मथुरा, या कुछ दिनों के उपरांत गोकुल और द्वारका—अंतर ही कितना था ? क्या राधा श्याम के निकट जाकर अपने हृदय की ज्वाला को शांत न कर सकती थी ? परन्तु नहीं, प्रिय का ध्यान ही प्रिय का सामीप्य है, संयोग में जो-जो वस्तुएं मन को मोह लिया करती थीं आज वे ही सब की सब प्रिय का ध्यान दिलावेंगी ! संध्या हो रही है, गायें वन से लौट रही हैं, सूर्य छिप रहा है, ग्वाल-बाल घर आ रहे हैं, इसी समय अपनी मुरली को बजाते हुए श्याम वन से ब्रज को आया करते थे :-

“एहि बिरियां वन तें ब्रज आवते ।

दूरहि ते वह वेनु अघर घर बारम्बार बजावते” ॥

ऐसा कौन हृदयहीन होगा जिसके मन में पुरानी वस्तुओं को देख कर उनसे लिपटी हुई पुरानी स्मृतियां ज्यों की त्यों न जाग उठें ?

विरहिणी सीता ने भी हनुमान के द्वारा अपने प्रिय के पास संदेश भिजवाया था परन्तु उसमें दास्य की गंध है माधुर्य नहीं, प्रेम का संदेश देने वाली सीता को यह ध्यान रहता है कि राम भगवान् हैं और सगुण लीला करने के लिए ही पृथ्वी पर आये हैं :-

“कहु कपि कब रघुनाथ कृपा करि,

हरि हैं निज वियोग-संभव दुख ।

सगुन रूप लीला विलास-सुख,

सुमिरति करति रहति अंतरगत ॥”

इस संदेश में प्रेम कम झलकता है शिष्टाचार अधिक, प्रेम में हम

प्रेम पात्र से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ते हैं। वह अपनी उपाधियों और अपने पद को साथ लेकर हमारे सामने नहीं आता; शिष्टाचार में हम भी उसको साधारण जनता की ही आंखों से देखते हैं। यदि सीता राम को विष्णु का अवतार समझती हैं तो अपने को लक्ष्मी का अवतार समझें, फिर वियोग का क्या थोथा झगड़ा? वस्तुतः तुलसी में आदर्श है और आदर्श में माधुर्य नहीं होता केवल शुष्कता होती है।

प्रसंगवश यदि भ्रमरगीत पर भी विचार कर लिया जाय तो अनुचित न होगा क्योंकि सूर की प्रकृति का यहीं सबसे अधिक निखरा हुआ चित्र मिलता है। यदि ध्यानपूर्वक प्रयत्न किया जावे तो विद्वान् उद्भव को “बनानेवाली” गोपियों की संख्या निश्चित हो सकती है, अकेली राधा तो इतनी गंभीर है कि अपने को ही दोष देती है अपने प्रिय को तनिक भी नहीं और प्रिय के सखा के साथ भी सहानुभूति ही रखती है, परन्तु शेष गोपियां अपने अपने स्वभाव के अनुसार बातें करती हुईं बेचारे उद्भव को ‘काठ का उल्लू’ सिद्ध कर देती हैं। कोई गोपी उनको प्रत्यक्ष ही कपटी, स्वार्थी, मधुमत्त आदि कह सकती है, किसी के सरल शब्दों में भी यही ध्वनि निकल रही है, और जो सबसे चंद हैं वे तो ऊपर से उसकी मित्र बनती हैं परन्तु करती हैं चुहल-बाजी ही— उनकी शब्दावली ही उनकी मुखमुद्रा का अनुमान करा सकती है। जिस दृश्य से वियोगिनी गोपियों की उदासी क्षणभर में किनारा कर गई उससे राजनीतिक तथा सामाजिक विषमता में पलने वाले पाठक की सोत्कार भी शान्त हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। यही सूर की सबसे बड़ी देन है, जिसकी समता तुलसी या अन्य किसी कवि का साहित्य नहीं कर सकता। यदि इस उलझे हुए जीवन में हृदय की आग को क्षणभर के लिये दबाकर मन्द मन्द मुसकराने का भी कुछ मूल्य है तो हिन्दीसाहित्य सूर का चिर ऋणी है, क्योंकि सूर

ने अपने पाठकों को इस निर्जीव जीवन में भी कंटकावृत्त सुमन के समान स्तब्ध होकर खिले रहने की प्रेरणा दी है।

अब जहां तक दूसरी बातों का सम्बन्ध है सूर तुलसी की कोई बराबरी नहीं कर सकते। सूर में ग्रामीण ब्रजभाषा का सौंदर्य है परन्तु तुलसी संस्कृत शब्दावली से ब्रजभाषा तथा अवधी दोनों का ही संस्कार कर उनको साहित्योपयोगिता प्रदान कर सकते हैं — विनयपत्रिका में तो यह संस्कृतपन इतना अधिक है कि कारक चिन्ह तक बेखटके संस्कृत से चले जाते हैं। सूर में स्थानीय रग या प्रांतीयता अधिक है जो आगे चल कर उनके साहित्य के लिये घातक सिद्ध हो सकती है क्योंकि अब ब्रजभूमि साहित्य का केन्द्र नहीं रह गई इसलिए ब्रजभाषा भी एक प्रांतीय भाषा मात्र रह जावेगी। राजभाषा हिन्दी को सीखने वाला आज का पाठक “टेव”, “लडैतहि” “भावै” “बिरियाँ”, “बरु”, “काइन”, “खोरी”, “ठगोरी” आदि शब्दों का भी अर्थ पूछता हुआ ही आगे बढ़ सकता है।

अप्रस्तुत-योजना में भी सूर का क्षेत्र सीमित है और तुलसी का अपार। सूर ने अधिकतर सहारा उत्प्रेक्षा अलंकार का लिया है, परन्तु वहां भी रमणीयता कम ही मिलती है, पौराणिक अलंकार बुद्धि से अधिक सम्बन्ध रखते हैं हृदय से कम, जहां अप्रस्तुत-योजना सामान्य जीवन से की गई है वहां आवृत्ति को प्रवृत्ति ही है, राधा के सौन्दर्य का वर्णन अवश्य कुछ माधुर्य दिखलाता है, परन्तु सत्य तो यह है कि सूर की कविता त्रिविध हाव में ही अधिक मोहिनी है। तुलसी में ऐसी बात नहीं, यदि उनके काव्यों के सौन्दर्य को ही अध्ययन का विषय बनाया जावे तो सारे साहित्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विद्वानों ने अलंकारशास्त्र का विवेचन करते हुए उदाहरण केवल तुलसी के ही काव्य से लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि तुलसी की कला कितनी सर्वांगीण है।

यदि प्रबन्धनिर्वाह भी कवित्व का आवश्यक अंग माना जावे तो फिर सूर तुलसी की बराबरी नहीं कर सकते । सूर तो मुक्तक गीत ही लिख सकते थे उनको सभी वर्णनीय स्थलों की पहचान कब थी ? इसीलिये उनका संसार सीमित है उनका कौशल सीमित है, उनका दृष्टिकोण सीमित है । संभवतः सूर का अंधा होना या एक स्थान पर ही टिक कर रहना इस सीमा का एक मुख्य कारण हो । मानव जीवन के कवि होकर भी वे प्रकृति के तुलसी की अपेक्षा अधिक प्रेमी थे । तुलसी की कविता एक लता के समान दूर तक फैल कर अधिक विस्तृत स्थल घेर लेती है; सूर का काव्य एक ऐसा पादप है जिसका फैलाव अधिक नहीं परन्तु जो अपनी गहरी जड़ों से इतना रस खींचता है कि जितने क्षेत्र में फैला है उतने पर अपनी स्थायी छाप तथा सुगन्धि छोड़ जाता है ।

कबीर और बौद्धमत

सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिए मनीषी-जन जिन बन्धनों का विधान कर देते हैं वे कुछ समय तक तो प्रथाओं के रूप से समाज में व्यवस्था रखते हैं, फिर जब उनका आधार और स्वरूप वैज्ञानिक बन जाता है तो वे 'धर्मशास्त्र' का रूप ग्रहण कर लिया करते हैं । परन्तु समाज प्रगतिशील है, वह उन्हीं नियमों से सदा जकड़ा नहीं रह सकता इसलिए कालान्तर में धर्म तथा यथार्थ जीवन के बीच एक गहरी खाई दिखलाई पड़ने लगती है, यही सुधार या क्रान्ति का अवसर है । हमारे देश में इस प्रकार के दो अवसर आये और दोनों ही अवसरों ने भारतीय समाज में उथल-पुथल मचा दी । प्रथम सामाजिक क्रान्ति विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व एक भारी तूफान लाई थी, इस ने ब्राह्मण धर्म की संकीर्ण तथा संकुचित मनोवृत्ति को सत्य और प्रत्यक्ष की कसौटी पर कस कर इस

क्षणिक संसार के क्षणभंगुर वैभव में अपने को भूल जाने वाले पंडितों को कड़ी चेतावनी दी थी। इतिहास में इसको बौद्धधर्म कहा गया है, यह साधारण जनता की एक पुकार थी जिसको कुछ कारणों से अनेक भूपालों और श्रेष्ठियों का भी सहयोग प्राप्त होगया था और इसी लिए सारे जम्बूद्वीप में इसका स्थायी प्रभाव पड़ा—इसके भग्नावशेष आज भी दिखाई पड़ सकते हैं।

भारत में सामाजिक क्रान्ति का दूसरा तूफान विक्रम से लगभग एक सहस्र वर्षों के उपरांत आया। एक ओर राजपूतकालीन कला अपने चरम विकास पर पहुँच कर नवजीवन की सूचना दे रही थी दूसरी ओर सामान्य जनता उतनी ही अधिक उपेक्षित हो रही थी। संभवतः पंगु जनता को कुछ वर्षों तक अपनी हीनावस्था का ज्ञान न होता और वह दंभी साधुओं, पाखंडी पंडितों और विलासी भूमिपालों के अत्याचारों के सामने सिर झुकाए रहती, परन्तु मुसलमानों के आगमन ने विचार शक्ति को एक विशेष मार्ग दिखलाया। जो पंडित तिलक और छापे लगाकर अपने को उच्चवंश का बतलाते थे वे ही इन विदेशियों (जिनका आचार-विचार शूद्रों से भिन्न नहीं था) को सिर झुकाकर इनकी वंदना करते थे। इतना ही नहीं जो शूद्र कल तक अछूत था वही आज अपना नाम और वेष बदल कर—मुसलमान होकर—सत्कार तथा पूजा का अधिकारी बन जाता था। जनता का वर्णाश्रम प्रथा से विश्वास उठने लगा। सोमनाथ के मन्दिर की प्रसिद्ध दुर्घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि पत्थर में हृदय नहीं होता। अस्तु 'संतमत' नाम से एक नई सामाजिक क्रान्ति प्रारम्भ हो गई जिसके नेता कबीर थे।

एक सामान्य दृष्टिपात से ही यह स्पष्ट होजाता है कि बौद्धमत तथा संतमत लगभग एक सी ही परिस्थिति में जन्मे थे। दोनों ने

अपनी विचारधारा संस्कृत भाषा से भिन्न जनता की भाषा से प्रसारित की थी—बौद्धमत ने पाली में तथा संतमत ने 'भाषा' में। दोनों ही जन्मतः महत्ता के विरोधी थे, दोनों ने वेद आदि धार्मिक ग्रन्थों का षड़ना व्यर्थ बतलाया, दोनों के प्रारम्भिक उपदेश मौखिक ही रहे—ग्रन्थों का सृजन पीछे शिष्यों द्वारा हुआ। दोनों ने अपने उपदेश प्रारम्भ में अग्रहस्थों—भिक्षुओं या संतों—के ही लिये दिए, दोनों ने सामान्य बातों का ही प्रचार मानवमात्र के लिए किया—न बौद्धमत में धर्म परिवर्तन की विधि है और न संतमत में। यह बात दूसरी है कि गौतम के पास राजकीय प्रभाव भी था इसलिए उनके अनुयायी बड़े-बड़े राजा तक हुए और उनका प्रचार भारत से बाहर भी हो सका। संतमत में ध्वंसात्मक प्रणाली ही अधिक दिखलाई पड़ती है, और उस पर विदेशी प्रभाव भी काफी था।

कबीर तथा गौतम के सिद्धान्तों में भी तात्त्विक समानता दिखलाई पड़ती है। यह सभी जानते हैं कि गौतम बुद्ध के राज्य-त्याग का कारण यह था कि देवताओं ने उनके मार्ग में वृद्ध, रोगी, मृत तथा प्रव्रजित (संन्यासी) को भेजा; प्रथम तीन से उनको यह ज्ञान हुआ कि संसार दुःखमय है और अन्तिम से यह प्रकाश मिला कि दुःख से छुटकारा पाने का पथ संन्यास है। फलतः बुद्ध ने जो “चार आर्य सत्य” माने हैं उनमें “दुःखसत्य” को सबसे प्रथम स्थान दिया है। उनके अनुसार जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, रोग भी दुःख है, और मृत्यु भी दुःख है, अप्रिय से संयोग तथा प्रिय से वियोग भी दुःख है। कबीर भी इस दुःखवाद में ज्यों का त्यों विश्वास रखते हैं, और उनके दुःख के रूप भी वे ही हैं जो बुद्ध के थे :—

“कबिरा मैं तो तब डरौं, जो मुझ में ही होय ।

मीचु, बुढ़ाया, आपदा, सब काहू पै सोय ॥”

इस दोहे के प्रथम दो चरणों में यह बताया गया है कि संसार में दुःख सर्वव्यापी बात (यूनीवर्सल फैक्ट) है, और अन्तिम दो चरण यह बतलाते हैं कि इस दुःख के सामान्यतः तीन रूप हैं—मृत्यु (मीचु), वृद्धावस्था (बुढ़ापा) तथा रोगादि (आपदा) । अन्य दोहों में भी दुःखवाद तथा उसके ये तीन रूप स्पष्टतः दिखलाई पड़ जाते हैं ।

दुःख सत्य का विवेचन करने के उपरांत बुद्ध ने दूसरे आर्यसत्य “दुःख हेतु” की विवेचना की है । उनके मतानुसार तृष्णा (पाली—तन्हा) ही दुःख का हेतु है । यह तृष्णा तीन प्रकार की देखी जाती है—काम की तृष्णा, भव की तृष्णा, तथा विभव की तृष्णा । कबीर ने भी इस विश्वव्यापी दुःख का कारण आशा-तृष्णा (अथवा तृष्णा) को ही माना है—

“जो देखा सो दुखिया देखा ।

तन धर सुखिया कोई न देखा ॥

“जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुःख दूना ।

आशा-तृस्ना सब घट व्यापे, कोई महल नहिं सूना ॥”

यद्यपि कबीर ने “आशा-तृस्ना” को दुःख को हेतु माना है परन्तु यह न समझना चाहिए कि दुःख के हेतु दो भिन्न-भिन्न हैं, वस्तुतः ‘आशा’ और ‘तृष्णा’ दोनों का प्रयोग जोर देने के ही लिये हैं । कबीर ने तृष्णा के रूप ‘कामिनी’ तथा ‘कनक’ माने हैं, जहां ‘कामिनी’ तथा ‘काम की तृष्णा’ एक ही वस्तु है; और ‘कनक’ के अन्तर्गत ‘भव’ तथा ‘विभव’ दोनों ही आ जाते हैं—(सामान्य जनता ‘भव’ तथा ‘विभव’ में भेद नहीं कर सकती) :—

“एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय ।”

तृष्णा के ये दो रूप प्रायः सर्वमान्य हैं फारसी में “ज़र” और “जोरू”

कबीर ने कामिनी को विशेष महत्व दिया है क्योंकि कामिनी के लिए मनुष्य कनक का भी त्याग कर सकता है। इसलिए कामिनी की छाया से भी सदा सावधान रहना चाहिए :—

‘जहां जराई कामनी, तू जनि जाइ कबीर ।

उड़ि के धूलि जो लागसी, मैला होइ सरीर ॥

इस दुःख का निवारण किस प्रकार हो इसके लिए बुद्ध ने दो बातें बतलाई हैं; एक का संबंध दृष्टिकोण से है, दूसरी का आचरण से; प्रथम का संबंध व्यक्तिगत जीवन से है, दूसरी का सामाजिक जीवन से। व्यक्तिगत जीवन के सुख के लिए गौतम कहते हैं कि दृष्टिकोण का परिवर्तन ही एकमात्र सहारा है, ☸ है भी वस्तुतः ऐसी ही बात; दुःख तो एक ‘आर्यसत्य’ है अर्थात् यह अवश्य ही होता है, उसका अनुभव न करना ही संताप से छुटकारा दिला सकता है, कबीर कहते हैं :—

“देह धरे का दंड है, सब काहू पै होय ।

ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूर्ख भुगतै रोय ॥”

इस दोहे के प्रथम दो चरणों में दुःख की ‘आर्यसत्यता’ बतलाई गई है, और अन्तिम दो चरण यह कहते हैं कि या तो ज्ञानी बनकर इस अवश्यम्भावी दुःख का अनुभव ही मत करो या मूर्ख बनकर रो-रो कर उस दुःख को भुगतो—भोगना सबको पड़ता है, इसमें सन्देह नहीं ॥

सामाजिक जीवन से दुःख विनाश के लिए बुद्ध ने “आर्य अष्टांगिक मार्ग” की स्थापना की थी, जिसके अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक्

☸ दु मेक अवरसैत्वज हैपी आल दैट इज नैसंसरी इज दु मेक अवरसैत्वज ए न्यू हर्ट एण्ड सी विद न्यू आईज ।”

एस० राधाकृष्णन : गौतम दी बुद्ध ।

स्मृति, तथा सम्यक् समाधि आते हैं। कबीर में ज्यों का त्यों तो इस मार्ग का निर्देशन मिलेगा परन्तु उनकी साखियों में जिस सिद्धान्त का मंडन किया गया है उसमें हिन्दूधर्म में बतलाये गये धर्म के लक्षणों के साथ-साथ इस मार्ग की भी चर्चा मिल सकती है, यद्यपि कबीर में खंडन ही अधिक है मण्डन अत्यल्प।

इस प्रकार जो व्यक्ति दुःख, दुःख हेतु, तथा दुःख विनाश को समझता है वह संसार में रहकर अपने जीवन को सफलतापूर्वक बिता सकता है, परन्तु दुःख का ज्ञान इस संसार में रहनेवाले प्राणी को हो किस प्रकार? साधारण व्यक्ति दुःखसत्य के रूपों को प्रति दिन देखता है परन्तु उसको कभी वैराग्य नहीं होता। कबीर ने संसार की अनित्यता तथा असारता की ओर बार-बार ध्यान दिलाकर “सर्व दुःखं दुःखम्” की स्थापना की है, उनकी असारता बौद्धों के शून्यवाद तथा शंकर के मायावाद से प्रभावित जान पड़ती है। वे इस संसार को काल का चबैना या पानी का बुदबुदा कहते हैं और स्त्री-पुत्र-कलत्र से वैराग्य की सम्मति देते हैं :—

“माता-पिता, बंधु, सुत, तिरिया, संग नहीं कोउ जाइ सका रे।
जब लगि जीवे हरि गुन गाले, धन-जोबन है दिन दस का रे।
चौरासी जो तरना चाहे, छोड़ कामिनी का चसका रे।”

गौतम के प्रसंग में “मध्यम मा” (पाली-मंझम माग) की भी चर्चा आती है। समाज के “अतिवाद” के विरोध में बुद्ध ने “मध्यम मार्ग” को प्रशस्त बतलाया था—न तो कामवासना में ही अति लिप्त रहना चाहिए और न शरीर को अति पीड़ा देकर सुखा ही डालना चाहिए। बुद्ध को दोनों अतियों (एक्सट्रीम्स) का कटु अनुभव था—राजसुख में उनको शांति न मिली थी और जैनियों के कठिन तप

की निस्सारता को भी वे देख चुके थे। कबीर भी “अति” के विरोधी हैं :—

“अति का भला न बोलना, अति का भला न चूप ।
अति का भला न बरसना, अति की भली न घूप ॥”

यह ठीक है कि बुद्ध का ‘मध्यम मार्ग’ दूसरी चीज है और कबीर का यह मध्यम-मार्ग एक दूसरी ही, परन्तु हमको तो ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ने, जान बूझकर या अज्ञान से ही, उस मध्यम मार्ग का एक दूसरा ही व्यावहारिक अर्थ किया है।

जीवन में प्रायः क्या है, उसका क्या रूप तथा गुण है, इन प्रश्नों पर बुद्ध ने अपना समय नहीं नष्ट किया, परन्तु वे यह जानते थे कि जो लोग ब्रह्म के विषय में बढ़-बढ़ कर बातें करते हैं उन्होंने भी उसको देखा नहीं है वे उस व्यक्ति के समान हैं जो प्रेम तो करता है परन्तु, किस सुन्दरी को, यह नहीं जानता ❀ । कबीर ब्रह्म के प्रति उदासीन न थे परन्तु वे यह जानते थे कि सभी लोग ब्रह्म के पास चलने की बात कहते हैं परन्तु वे उसको जानते नहीं, न जाने वे लोग कहाँ पहुँचेंगे :—

“चलन-चलन सब कोइ कहै, मोहि अन्देसा और ।
साहेब सों परिचय नहीं, पहुँचेंगे केहि ठौर ॥”

भारतीय पद्धति के अनुसार ज्ञान, कर्म तथा उपासना, ये ३ मार्ग परमार्थ के लिए माने गये हैं। बुद्ध तथा कबीर कर्मकाण्ड का तो

❀ दी टीचर्स व्हू टाक एबाउट ब्रह्म हैव नौट सीन
हिम फेस दू फेस । दे आर लाइक ए मैन इन लव व्हू कैन नौट से
व्हू दी लेडी इज् ।”

एस० राधाकृष्णन् : गौतम दी बुद्ध ।

खोखलापन देख ही चुके थे इसलिए इसका दोनों ने ही प्रत्यक्ष विरोध किया है। बुद्ध “ज्ञान और बुद्धिवाद” को ही महत्व देते हैं, कबीर के मत में भी साधु का साधुपन ज्ञान पर निर्भर है। परन्तु ज्ञान का अर्थ शास्त्र-ज्ञान नहीं है, शास्त्र-ज्ञान तो दंभ तथा अहंकार मात्र का दाता है, ज्ञान का अर्थ है सत् तथा असत् को समझकर तदनुसार आचरण करना, ❀ बुद्ध के सामान कबीर भी “कथनी” से परहेज तथा “करनी” में रुचि रखते थे :—

“कथनी मोठी खांड सी, करनी विष की लोय।

कथनी तजि करनी करै, विष तें अमृत होय ॥”

गौतम के मत में ब्रह्म तथा उपासना का कोई महत्व नहीं परन्तु कबीर में ये दोनों पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, कारण पौराणिक प्रभाव है—यद्यपि कबीर पुराणों का खण्डन करते थे परन्तु उनका सारा ढांचा आध्यात्मिक बातों में पुराणों पर ही स्थित है। आस्तिकता तथा भक्ति ये दो सामयिक प्रभाव तो थे ही सूफियों की शैली का भी कबीर पर प्रभाव पड़ा, वे ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध दाम्पत्य भी मानते हैं (अन्तर यह है कि सूफियों का ब्रह्म माशूक या प्रेयसी है जीव आशिक या प्रेमी; परन्तु कबीर का ब्रह्म पति है जीव पत्नी—इस सम्बन्ध में भारतीयता अधिक है।)

इस भांति हमने देखा कि बाहरी बातों के अतिरिक्त भी बौद्धमत तथा कबीर पंथ में पर्याप्त विचारसाम्य मिलता है, कारण यह नहीं कि कबीर ने बौद्धमत का ज्ञान प्राप्त किया हो या किसी भिक्षु की संगति से लाभ उठाया हो, प्रत्युत यह कि दोनों मतों का

❀ ही नौट मीअरली प्रीचड बिहच इज् ईजी बट लिब्ड दी
काइण्ड आफ लाइफ बिहच ही टौट मैन् शुड लिब।

(राधाकृष्णन्)

विकास समान परिस्थितियों में ही हुआ और कबीर जिस वर्ग के नेता थे उसमें बौद्धधर्म के भग्नावशेष किसी न किसी रूप में चले ही आरहे थे—आज भी उनकी खोज की जा सकती है। कबीर पर परिस्थितियों का अत्यधिक प्रभाव है, उनकी व्यक्तिगत स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि शुद्ध बौद्ध धर्म के अतिरिक्त उसके विकृत रूप सिद्ध-नाथ-संप्रदाय तथा कहीं कहीं (विशेषतः पदों में) वाममार्ग की भी अप्रत्यक्ष छाया स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, जिसकी चर्चा अन्यत्र करेंगे ॥

—:—

पद्मावत में रूपक-तत्व

“पद्मावत” काव्य को प्रारंभ करते ही ‘स्तुति-खंड’ में पाठक का ध्यान उन पंक्तियों पर जाता है जिनमें जायसी ने इस काव्य की भूमिका बतलाई है, कवि कहता है कि—“मैंने अपनी कथा का आरम्भ सन् ६२७ में किया, कथा यह है कि सिंहलदीप की पद्मिनी रानी थी, जिसको रत्नसेन चित्तौड़ गढ़ ले आया, अलाउद्दीन दिल्ली का राजा था जिसके सामने राघव चेतन ने पद्मिनी के रूप का वर्णन किया, सुनकर बादशाह ने गढ़ को घेर लिया, फिर हिन्दू-मुसलमानों की लड़ाई हुई आदि से अन्त तक जिस प्रकार की कथा है उसको भाषा में लिखकर चौपाइयों में कहता हूँ।” आगे के खण्डों में भी कथा की प्रवृत्ति स्पष्ट है :—

(१) सिंहलदीप कथा अब गावों ।

औ सो पद्मिनि बरनि सुनावों ॥

(२) चित्रसेन चितउर गढ़ राजा ।

कै गढ़ कोट चित्र सम साजा ॥

तेहि कुल रतनसेन उजियारा ।

धनि जननी जनमा अस धारा ॥

कथा के अन्त में भी कवि के अन्तिम शब्द यही संकेत करते हैं कि नागमती-पद्मावती के सती हो जाने पर काव्य का अन्त हो जाता है :—

रातीं पिउ के नेह गई, सरग भएउ रतनार ।

जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार ॥

इस काव्य का अन्तिम अध्याय “उपसंहार” है, जिसको अन्य अध्यायों के समान “खण्ड” नाम नहीं दिया गया फिर भी हम उसको छेपक मात्र नहीं कह सकते, जान पड़ता है कि जायसी की योजना में इस अध्याय को कोई स्थान न था परन्तु कथा लिख चुकने के अनन्तर जब उसने इस कथा का एक दूसरा ही अर्थ पण्डितों से पूछा और वे पण्डित बोले कि—“हम्ह किछु और न सूझा,” तो अपना विशेष आशय सर्वसाधारण पर प्रकट करने के लिए उसने इस ‘उपसंहार’ की भी रचना की । इस अध्याय की ये पंक्तियाँ ‘किछु और’ अर्थ की कुंजियाँ हैं :—

“तन चितउर, मन राजा कीन्हा ।

हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥

गुरु सुआ जेह पन्थ देखावा ।

बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।

नागमती यह दुनियां - धंधा ।
 बांचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
 राघव दूत सोई सैतानू ।
 माया अलाउद्दीन सुलतानू ॥”

यदि इस कुंजी को ध्यान में रखकर पद्मावत के दूसरे अर्थ पर विचार करते हैं तो पहिली कठिनाई यह है कि यह कुंजी अधूरी है—इसमें गन्धर्वसेन, देवपाल तथा गोरा-बादल जैसे महत्वपूर्ण पात्रों का दूसरा अर्थ नहीं बतलाया गया. यदि यह कहा जावे कि इन पात्रों का सांसारिक कथा में तो विशेष स्थान है परन्तु आध्यात्मिक कथा में नहीं, तो राघवचेतन का ही क्या स्थान है वह तो माया को बुद्धि की प्राप्ति के लिए प्रेरित भर करता है । इसी प्रकार गोरा-बादल को भी ऐसे साधन माना जा सकता था जिनके द्वारा (जिनको निमित्त मात्र बनाकर) परमात्मा माया के बंधन से बेचारे जीव का उद्धार करा सकता है ।

दिये हुये रूपक पर विचार किया जावे तो उसमें भी दोष दिखलाई पड़ते हैं । चित्तौरगढ़ शरीर है, और राजा उसमें रहनेवाला मन, सिंहलद्वीप हृदय है और पद्मावती उसमें रहनेवाली बुद्धि । कवि का अभिप्राय यह हो सकता है कि मन स्थूल शरीर में निवास करता है और (सद्) बुद्धि हृदय में, राजा का सिंहलद्वीप पहुँच कर पद्मावती को प्राप्त करने का प्रयत्न मन का शारीरिक सुखों से उदासीन होकर हृदयक्षेत्रमें प्रवेश कर परमसत्ता को खोजने का प्रयत्न कहा जा सकता है । परन्तु पद्मावती को लेकर राजा का फिर चित्तौड़ को लौटना क्या कहा जावेगा ? क्या मन फिर शरीर में रम गया और उस बुद्धि को भी अपनी वशंगता बनाकर उस को शारीरिक सुख में लिप्त कर

सका ? यदि ऐसा माना जावे तो बुद्धि का महत्व समाप्त हो जावेगा और वह केवल मन की वशवर्तिनी मात्र रह जावेगी, वस्तुतः राजा का सिंहलद्वीप से लौटना मन का पतन तो माना जा सकता है, परन्तु पद्मावती का साथ लौटना (और वह भी वश्या बनकर) दूसरे अर्थ में एक दोष उत्पन्न कर देता है ।

हीरामन तोते को गुरु माना गया है । गुरु उसी परम सत्ता की प्रेरणा से चलता है और संयोगवश किसी भाग्यवान् को उसकी प्राप्ति हो जाती है । गुरु ने मन को स्वयं उपदेश नहीं दिया प्रत्युत वह “दुनियां-धंधा” के उस अभिमान को चूर करता है कि उसमें सबसे अधिक आकर्षण है । मन को जब यह ज्ञात हुआ कि गुरु एक और भी अधिक आकर्षक वस्तु को जानता है तो मन उस गुरु से यह प्रार्थना करता है कि उस परम सत्ता का सांगोपांग वर्णन करे । जायसी ने इस अवसर पर जो नखशिख वर्णन किया है उसका परमसत्ता से किचिन्मात्र भी सम्बन्ध समझना सफेद भूँठ है—वह तो एक पद्मिनी नायिका का शृंगारी तथा विलासी चित्र है । सिंहलद्वीप में पहुँचकर तोते ने पद्मावती को रत्नसेन के प्रेम तथा त्याग की जो बात बतलाई थी वह भी असंगत है, क्या गुरु की यह भी ड्यूटी है कि वह उस परमसत्ता से उस साधक की सिफारिश करे ?—संभवतः कुछ विद्वान् इसको पैगम्बरी प्रभाव कह देंगे । खटकनेवाली दो बातें और हैं प्रथम तो यह कि काव्य के प्रारम्भ में ही जब पद्मावती तोते से कहती है कि:—

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई, दिन दिन मदन सतावै आई ।

जोबन मोर भएउ जस गंगा, देह देह हम्ह लाग अनंगा ॥

तो उसकी भी संगति दूसरे पक्ष में नहीं बैठ सकती, शायद

परमात्मा कभी भी किसी जीव की उपासना का इतना भूखा न रहता होगा कि अपनी ओर से एक देवदूत को गुरु बनाकर साधकों की भर्ती करावे। दूसरी बात तोते के एक दम विलीन हो जाने की है, मन और बुद्धि के एकरूप होते ही गुरु अन्तर्धान होगये, मन बुद्धि को अपनी वशवर्त्तिनी बनाकर फिर शरीर के सुखों को भोगने के लिए लौट आया, परन्तु गुरु बेचारे उस बुद्धिरहित हृदय में ही रमण करते रह गये, जिस समय मन (राजा) को माया (अलाउद्दीन) ने अपने अधिकार में कर लिया उस समय गुरु की आवश्यकता का अनुभव होता है परन्तु न तो मन ने उनका ध्यान किया और न वे स्वयं उपस्थित होने का कष्ट कर सके।

जायसी ने सबसे बड़ी भूल यह की है कि नागमती, अलाउद्दीन तथा राघवचेतन के विभागों का पृथकीकरण नहीं किया। नागमती 'धुनियां-धंधा' है, अलाउद्दीन माया, और राघव शैतान—परन्तु इन तीनों में पारस्परिक भेद क्या है ? जिसको वेदान्ती माया कहते हैं उसी को जनसाधारण 'धुनियां-धंधा' कहता है, और मुसलमानों का शैतान भी वही है जो बन्दे को खुदा की इबादत से महरूम रखे। यह भी सोचना है कि शैतान अपना प्रभाव जीव पर डालता है या किसी अन्य (माया) पर, क्योंकि इस कथा में तो राघव ने राजा से कुछ नहीं कहा केवल बादशाह को अपनी पट्टी पढ़ाई। ऐसा जान पड़ता है कि जायसी ने ऐसे पात्र तीन देखे जो कि राजा और रानी के निर्विघ्न संयोग में बाधक हैं, उन तीनों का अलग अलग व्यक्तित्व है इसलिए उनको तीन नाम दे दिये गये। हमारी समझ में राघव का व्यक्तित्व अलाउद्दीन के व्यक्तित्व से भिन्न नहीं है (उसको हम बादशाह का एक गण कह सकते हैं) इसलिए उसको अलग नाम न देना चाहिए था; तब अलाउद्दीन को शैतान कह दिया जाता और नागमती को माया, क्योंकि

माया अपने आकर्षण के कारण जीवात्मा को परमात्मा से अलग बनाये रखती है और शैतान का काम केवल यही है कि साधक के संयोग में विघ्न उपस्थित करता रहे (जैसा कि अत्माउद्दीन का काम है क्योंकि उसको रानी की प्राप्ति तो न हो सकी उसने केवल राजा-रानी के संयुक्त जीवन में बाधाएं डालने में ही सफलता प्राप्त की) ।

माया का निवास-स्थान कौन-सा है ? अपने यहां माया को भी ब्रह्म के ममान विश्वव्यापिनी कहा गया है । जायसी ने अत्माउद्दीन के निवास-स्थान दिल्ली का वर्णन इन शब्दों में किया है :—

“सो दिल्ली अस निबहुर देसू । कोइ न बहुरा कहै संदेस ॥

जो गवनै सो तहां कर होई । जो आवै किछु जान न सोई ॥

अगम पंथ पिय तहां सिधावा । जो रे गएउ सो बहुरिन आवा ॥

जिससे जान पड़ता है कि वह साक्षात् परलोक है । और जब इसकी तुलना सिंहलद्वीप के वर्णन से करते हैं :—

पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू । दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू ॥

जेह वह पाई छाह अनूपा । फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा ॥

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के सामने तीनों नगरों में से किसी का भी स्पष्ट चित्र नहीं है, वह सभी को या तो स्वर्ग समझने लगता है या सभी की छाया इस पिण्ड में देखने लगता है । चित्तौड़गढ़ तथा सिंहलद्वीप का वर्णन भी लगभग एकसा ही है, उसी प्रकार ‘पौरी’, ‘कनक-केवार’, ‘राजघरियार’, ‘खंड’, तथा ‘भंवरी’ दिखलाई पड़ती हैं—केवल अन्तर यह है कि सिंहलद्वीप में उनकी संख्या ६ है और चित्तौड़ में ७ ।

नागमती को जायसी ने ‘दुनियाँ-बंधा’ कहा है, जब तक गुरु नहीं आये थे नागमती ने राजा पर ऐसा जाल फैलाया था कि वह ससार में

उसी को सबसे सुन्दर मानता था, गुरु की कृपा से राजा के भीतरी नेत्र खुले और वह उस अधिक रूपवती की प्राप्ति के लिए चल पड़ा । तदनन्तर नागमती का विरह-वर्णन है जिसको दूसरे अर्थ में असंगत ही समझा जावेगा, क्योंकि दुनियां के धंधे मन को फंसाते अवश्य हैं परन्तु जब मन विरक्त हो जाता है तो इन धंधों को इसकी कोई परवाह नहीं होती । दूसरी बात यह है कि पद्मावती तो इतनी रूपवती है कि राजा उसके वश में रहता है (साधक के लिए भी साध्य के वश में रहना स्वाभाविक है), परन्तु नागमती कुलगृहिणी है, वह पति की वशवर्त्तिनी है—राजा (मन) उसके वश में नहीं, वह (दुनिया-धंधा) राजा (मन) के वश में है—यह एक दोष है, क्योंकि दुनियां में भी वही आकर्षण है जो परमात्मा में है बल्कि दुनिया में परमात्मा से भी अधिक आकर्षण है अन्यथा अधिकतर व्यक्ति दुनिया में न रमकर परमात्मा में रमते । नागमती का अन्त भी रूपक की पुष्टि नहीं करता, नागमती तथा पद्मावती दोनों ही राजा के साथ सती हो जाती हैं । पद्मावती का सती होना तो ठीक है, क्योंकि उसका अभिप्राय यह हो सकता है कि मन (आत्मा) तथा बुद्धि (परमात्मा) बाहरी आवरण (शरीरों) को त्यागकर इस प्रकार मिल जाते हैं कि फिर उनका वियोग नहीं हो सकता—

औ जो गांठि, कंत ! तुम्ह जोरी । आदि अंत लहि जाइ न छोरी ।

यह जग काह जो अछहि न आथी । हम तुम नाह ! दुहूँ जग साथी ॥

परन्तु नागमती सती क्यों हो गई ? क्या जब मन बुद्धि से अभिन्न होकर मिलता है या आत्मा परमात्मा में मिलती है, तो दुनियां के धंधे भी साथ लगे रहते हैं ? हम समझते हैं कि माया (अलाउद्दीन) के समान उनको भी यहीं रह जाना चाहिए था ।

अब राजा और रानी के व्यक्तित्व को देखिए । जायसी ने राजा को मन तथा रानी को बुद्धि माना है, जिसका अभिप्राय यह है कि

राजा साधक है और रानी साध्य । रानी के माता-पिता का कोई सांकेतिक अर्थ नहीं हो सकता और न उसके जीवन की भिन्न-भिन्न क्रीडाओं से हम कुछ समझ पाते हैं । राजा के पक्ष में भी यही बात है, उसका यश-वैभव, नगर-हाट, संतति, युद्ध आदि का रूपक की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं । यह हम कह चुके हैं कि रानी का तोते से अपनी काम-वेदना का निवेदन सामान्य अर्थ में तो हेय है ही, आध्यात्मिक अर्थ में भी ग्राह्य नहीं । इसी प्रकार “पद्मावती-रत्नसेन भेंट खंड” में रानी ने राजा को अपने पूर्वानुराग की जो बात बतलाई है उसमें कितनी सरसता है, परन्तु रूपक की दृष्टि से वह भी असंगत है :—

“जब हूँत कहिगा पंखि संदेसी । सुनिऊँ कि आवा है परदेसी ॥
तब हुँत तुम विनु रहै न जीऊ ॥ चातकि भयउं रटत “पिउ पीऊ” ॥

यदि पुस्तक के भीतर रखे गये अध्यायों पर ध्यान दिया जावे तो “नखशिख खंड”, “पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड”, “रत्नसेन-साथी-खंड”, “षट्-ऋतु-वर्णन-खंड”, “लक्ष्मी-समुद्र-खंड”, “नागमती-पद्मावती-विवाद-खंड”, “रत्नसेन-संतति-खंड”, “स्त्रीभेद-वर्णन-खंड”, “पद्मावती-रूपचर्चा-खंड”, “बादशाह-भोज-खंड”, “देवपाल-दूती-खंड”, “बादशाह-दूती-खंड”, आदि दसों अध्याय ऐसे हैं जिनका रूपक से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है, कम से कम एक चौथाई भाग तो कथा से भी संबन्धित नहीं । यदि रूपक की उपयोगिता को ध्यान में रखकर इस काव्य में काट-छाँट की जावे तो इसका आकार आधा हो जावेगा, यदि वही कतरनी पात्रों तथा कथावस्तु पर चले तो पात्रों में केवल ४-५ शेष बचेंगे और कथावस्तु एक-तिहाई रह जावेगी ।

इस प्रकार यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि पद्मावत में रूपक का निर्वाह नहीं हुआ, उस काव्य को कथा समझकर पढ़ना ही

अधिक न्याय्य है, इसमें किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन खोजना भूल होगी। परन्तु यह कहना उचित नहीं कि जायसी का ध्यान रूपक-तत्त्व की ओर बिल्कुल भी नहीं था। “उपसंहार” को प्रमाण न माना जावे तो भी कथा-वर्णन के लगभग प्रत्येक ‘खंड’ में कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं जिनका स्पष्ट रूप आध्यात्मिक चक्षुओं के विना दिखलाई ही नहीं पड़ सकता ! इन स्थलों को हम आनुषंगिक नहीं कह सकते; इनमें इतनी प्रभावात्मकता है कि इनमें कवि की आत्मा रम गई जान पड़ती है, जैसे पद्मावती की बिदा का यह दृश्य है :—

गवन-चार पद्मावति सुना । उठा घसकि जिउ औ सिर धुना ॥

नैहर आइ काह सुख देखा ? जनु होइगा सपने कर लेखा ॥

कंत चलाई का करौं, आयसु जाइ न मेटि ।

पुनि हम मिलहिं कि ना मिलाहि, लेहु सहेली भेंटि ॥

अस्तु, जायसी ने ‘पद्मावत’ को कथा के रूप में लिखा था न कि एक रूपक बनाकर। कथा के बीच में जो आध्यात्मिक संकेत मिलते हैं वे कवि की भावुकता तथा दृष्टिकोण विशेष के परिचायक हैं न कि किसी रूपक के अंग। जान पड़ता है कि राजा और रानी के पारस्परिक व्यवहार में तो कवि आदित एव आध्यात्मिक संकेत देखता रहा (कभी राजा साध्य बन जाता है, कभी रानी), और पात्रों के विषय में ऐसा भी कोई विचार न था, नागमती, राघव चेतन तथा अलाउद्दीन के अर्थ तो निश्चय ही पीछे जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, तोता तथा नागमती का नाम भूमिका में नहीं है और उपसंहार में अनेक आवश्यक पात्रों का संकेत नहीं दिया गया। कथा की प्रवृत्ति ही इस काव्य का प्राण है, इस गुण पर ध्यान न देकर रूपक-तत्त्व की खोज असफल ही न रहेगी कवि के प्रति न्याय भी न कर सकेगी ॥

भ्रमर-गीत की भूमिका

दक्षिण भारत में “पुष्टिमार्ग” का उपदेश देने से ‘आचार्य’ पद प्राप्त करने के अनन्तर जब महाप्रभु वल्लभ व्रजभूमि के दर्शन को आये तो उन्होंने भक्तों के मुख से एक सद्दय भक्त सूरदास की प्रशंसा सुनी। महाप्रभु ने सूर को बुलवाया और भगवल्लीला का कोई पद गाने की आज्ञा दी, परन्तु सुनकर आचार्य को आनन्द न प्राप्त हुआ। निश्चय ही वे सूर की कला पर रीझे और उसको अपना शिष्य बना लिया, परन्तु महाप्रभु ने सूर को बतलाया कि दीनता को कोई आवश्यकता नहीं है। आचार्य वल्लभ के सदुपदेश से सूर के ज्ञानचक्षु खुले और उन्होंने देखा कि समग्र ब्रह्माण्ड में भगवान कृष्ण (ब्रह्म) और भगवती राधा (प्रकृति) का अखण्ड नित्य रास (नित्य नया क्रिया कलाप) हो रहा है और कुछ सौभाग्यशालिनी गोपियाँ (जीवात्माएँ) भगवान की पुष्टि (कृपा) से वंशो (आंतरिक पुकार) की ध्वनि सुन कर सुत-पति-गृह (संसार के सम्बन्धों) को त्याग कर उस रास में साक्षीरूप से भाग लेती हैं। महाप्रभु की आज्ञा से श्रीमद्भागवत के इस रहस्य को सूर ने ‘भाषा’ में गाया है। इसी कथा के अन्तर्गत वह प्रसंग भी है जहाँ ज्ञानी उद्धव विरहिणी गोपियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश देने आये परन्तु उनके श्रद्धा प्रम से प्रभावित होकर स्वयं ज्ञान की बातें भूलकर ज्ञानी से भक्त बन गये। इस सरस स्थल को साहित्य में “भ्रमरगीत” कहा जाता है।

“भ्रमर-गीत” इस नाम की कथा भी बड़ी रोचक है। बात यह है कि जब कृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये तो उन्होंने अपने एक मित्र उद्धव को गोकुल इसलिए भेजा कि वे विरहिणी गोपियों को समझा बुझाकर शांत कर आवें। जिस समय ज्ञानी उद्धव अपना उपदेश सुना

रहे थे उस समय एक भ्रमर भी वहाँ इधर-उधर गूँज रहा था। भ्रमर और कृष्ण में बहुत सी बातें समान हैं—दोनों का रंग श्याम होता है, दोनों की ध्वनि (वंशी का स्वर तथा भ्रमर की गूँज) बड़ी मोहक होती है, दोनों का वस्त्र पीत (कृष्ण का पीताम्बर, तथा भ्रमर की पीतरेखा) होता है, दोनों सद्यःविकसित पुष्पों (या नवेली रमणियों) का रस लेकर चलते बनते हैं। इसलिये गोपियों ने अनेक ऐसे वाक्य भ्रमर को लक्ष्य करके कहे हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से श्याम पर लागू करने थे। इधर उद्धव तथा भ्रमर में भी बहुत कुछ समानता है—रूप रंग तथा वेषभूषा के अतिरिक्त कर्म भी दोनों का एक ही है क्योंकि नारी जगत में यह माना जाता है कि यदि भ्रमर किसी विरहिणी के पास आकर गुनगुनाने लगे तो उसके प्रियतम का संदेश ही कहता है। इस प्रकार गोपियों ने भ्रमर को लक्ष्य करके संदेशवाहक उद्धव से भी बहुत सी कथ्य-अकथ्य बातें अन्योक्ति रूप से कहीं हैं। गोपियाँ उद्धव से तो कम ही बातें करती हैं परन्तु भ्रमर के प्रति उनका कथन चलता ही रहता है, इस प्रसंग की वक्रता ही इसकी प्रसिद्धि एवं रोचकता का मूल कारण है।

हिन्दी साहित्य में इस प्रसंग के दो रूप हैं एक प्राचीन या साम्प्रदायिक एवं दूसरा नवीन या सुधारवादी। प्राचीन रूप की दो शाखाएं मानी जा सकती हैं, एक का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से बढ़ कर है, दूसरा यही बतलाता है कि संसार में प्रेम के पीछे मर मिटना ही जीवन की सफलता है; प्रथम का सम्बन्ध भक्ति साहित्य से है और दूसरे का रीतिसाहित्य से। नवीन रूप कृष्ण के मथुरागमन को आधुनिक समस्याओं के अन्तर्गत समझता है, जिसका दर्शन सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमरदूत' में मिलेगा।

भक्तिकालीन भ्रमरगीत के जन्मदाता विनोदी सूरदास थे, नन्द-

दास ने भी उन्हीं की भूमिका पर अपना भवन खड़ा किया है। सूर के कृष्ण मथुरा पहुँच कर ग्वाले से महाराजाधिराज बन गये परन्तु उस कृत्रिम जीवन में उनका मन न लगा, वे नित्य राधा तथा दूसरी गोपियों की सुधि में उदास रहा करते थे। श्याम के एक मित्र थे उद्धव, जो ज्ञान में अद्वितीय थे वे कृष्ण को बार-बार समझाया करते थे कि क्या प्रेम-प्रेम चित्लाया करते हो, प्रेम हृदय की दुर्बलता है, तुम्हें गोपियों की याद भुला देनी चाहिए। श्याम उद्धव को उत्तर भी दें तो क्या, हृदय हाथ पर रख कर तो दिखाया नहीं जा सकता, और किसी व्यक्ति की धारणा को कहने-सुनने से बदलना भी संभव नहीं। श्याम ने एक सफल युक्ति सोची और एक दिन जब उद्धव के आने की बेला थी श्याम अपने मुख पर कुछ गंभीरता तथा कुछ उदासीनता की सी झलक दिखाते हुए बैठ गये। उद्धव आये, उन्होंने कृष्ण के मुख की एक विचित्र मुद्रा देखी तो उत्सुक होकर बोले—क्या सोच रहे हो आज प्रातःकाल से हो ? कोई नवीन बात तो नहीं हुई ? श्याम अधिक गंभीर हो गए—‘नवीन क्या, सोचता यह हूँ कि संसार का मोह व्यर्थ है वस्तुतः प्रेम में कोई सार नहीं, व्यक्ति को ज्ञानवान होकर इससे ऊँचा उठना चाहिए। उद्धव को इस उत्तर की स्वप्न में भी आशा न थी, उनको अपने ऊपर बड़ा गर्व हुआ क्योंकि अंत में आज उनका प्रयत्न सफल हो गया, वे अपने मन के भाव को छिपाने का प्रयास करते हुए शिष्टाचार पूर्वक बोले—‘ठीक ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि प्रेम नितान्त निस्सार है, परन्तु वह आप जैसे महान को शोभा नहीं देता, मुझे पहले भी आशा थी कि आप महान हैं। श्याम अपने मन में मुस्कराए—‘व्यक्तियों का विशेष अन्तर नहीं, सिखानेवाला यदि योग्य है तो सभी ज्ञानी बन सकते हैं’। कृष्ण ने आगे कहा—‘यदि उपदेशक योग्य हो तो गोपियाँ भी ज्ञान में दीक्षित हो सकती हैं, परन्तु गोकुल तो बड़ा पिछड़ा हुआ प्रदेश है वहाँ ज्ञानी हैं ही कहाँ’।

उद्धव के मन में आया कि वे वहां जाकर उपदेश देने के लिये अपना नाम दे दें परन्तु रुककर बोले—‘उपदेशक तो आप यहां से भी भेज सकते हैं; यहां एक से एक बड़ा ज्ञानी पड़ा हुआ है’ । श्याम ने उत्तर दिया—‘यही मैं सोचता था परन्तु मुझे आपके अतिरिक्त ऐसा कोई व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता जो कृतकार्य हो सके, क्या तुम गोपियों के उद्धार के लिए इतना कष्ट स्वीकार कर सकते हो’ ? हृदय में अपार हर्ष और मुख पर जनसेवकों की सी बनावटी उदासीनता दिखलाते हुए उद्धव कल ही प्रातःकाल जाकर गोपियों को उपदेश देने के लिये सहमत हो गये, और अपने हृदय की उदारता दिखाते हुए उन्होंने यह घोषित कर दिया कि वे जो कुछ कहेंगे उसका नाम ‘उपदेश’ न होकर “श्याम का सन्देश” ही रहेगा । श्याम को इसमें कोई आपत्ति न थी ।

इधर गोपियां विरह में तड़पती रहती थीं परन्तु उनको विश्वास था कि उनका तड़पना व्यर्थ नहीं जा सकता, भावना के संसार में जो तरंगें उठती हैं वे सूक्ष्म तथा अनुभवातीत होते हुए भी संबन्धित व्यक्ति पर अवश्य ही प्रभाव डालती है, कृष्ण उदासीन नहीं रह सकते, वे एक दिन अवश्य आवेंगे । उन्होंने मथुरा की ओर से एक रथ को आता देखा, वैसा ही ध्वज, वैसा ही साज, वैसी ही गति, वैसा ही रंग-रूप, निश्चय ही कृष्ण आगये, जो जिस प्रकार बैठी थी उसी प्रकार इस सुसमाचार को सुनकर दौड़ी और सबने आकर रथ को घेर लिया । परन्तु दुर्भाग्य, श्याम नहीं यह तो कोई अन्य है, उनके मित्र हैं पीछे कृष्ण आ रहे होंगे ... उद्धव क्या कहते हैं ? ... उनका ही ‘सन्देश’ लाये हैं ... सुनो री ! सुनो, इस सन्देश में कितनी वेदना होगी, कितनी विकलता होगी, इसीलिए पहले सन्देश भेजा है पीछे आप आवेंगे । वे श्रद्धापूर्वक उद्धव के मुख पर नेत्र गढ़ाकर उनके चारों ओर बैठ गईं । उद्धव ने जो सन्देश दिया वह तो गोपियों का

अभीष्ट न था, उसका उन पर अच्छा प्रभाव न पड़ा और प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्होंने उद्धव का स्वागत न कर उनको आड़े हाथों लिया ।।

सूर के वर्णन को पढ़कर जान पड़ता है कि ज्ञानी, गम्भीर परन्तु अपटु उद्धव को चंचल, वाग्मी तथा संदेशदग्धा गोपियों ने घेर लिया, बुद्धू उद्धव यह समझते थे कि वे गोकुलवासियों पर बड़ी कृपा कर रहे हैं उस सन्देश को लाकर, इसलिए सब लोग उनकी पूजा करेंगे, श्रद्धा एवं शान्ति से उनके उपदेश को सुनकर धन्य हो जावेंगे; गोपियां समझ गईं कि यह तो मूर्ख एवं दंभी है इसको कोई 'लिफ्ट' नहीं दी जा सकती। कल्पना कीजिये जैसे एक भोला अध्यापक चंचल छात्रों की कक्षा में अनुशासन रखना न जानता हो, और वे छात्र उसकी उस दुर्बलता को जानकर उसको 'फेल' सिद्ध करने पर तुल गये हों। बेचारे उद्धव को इतना अवसर ही नहीं मिल पाया कि वे अपने पक्ष के समर्थन में अपना विद्वत्तापूर्ण भाषण दें, उनके एक-एक शब्द को मुख से निकलने में देर होती परन्तु उस शब्द पर टीका-टिप्पणी प्रारम्भ होने में देर न होती थी; और उस टीका-टिप्पणी का कोई अन्त न था, वह तो एक आधार था जिसका बहाना लेकर गोपियां उस सभा का विध्वंस कर रही थीं।

सूर की गोपियों में एकमात्र राधा तो ऐसी है जो अपनी ही 'चूक' पर पश्चाताप करती है, जिसने नन्दलाल की कही हुई बातों को अपने हृदय में लिख लिया है, और जो प्रिय के मित्र उद्धव को बुरा-भला कहना भी ठीक नहीं समझती। दूसरे वर्ग की वे गोपियां हैं जो शायद गंभीर रही होंगी, उन्होंने उद्धव को स्पष्ट बतला दिया कि योग और ज्ञान का मार्ग भी बुरा नहीं परन्तु वे उसकी अधिकारिणी नहीं, क्योंकि—

(१) वे रमणियां हैं, योग केवल पुरुषों के लिए साध्य है।

(२) वे युवावस्था में हैं, सन्यास केवल वृद्धावस्था में ही लेना ठीक माना गया है।

(३) वे अपद हैं, ज्ञानमार्ग केवल विद्वानों के लिए है।

(४) वे शूद्र हैं वेदविहित मार्ग पर कैसे चल सकेंगी ?

तीसरे वर्ग में वे गोपियां हैं जो युवती होने के कारण स्वभाव की उद्धत हैं, वे भ्रमर को संवोधन करके उद्धव को साफ-साफ मूर्ख, शठ नीच, पशु, पियक्कड़ आदि कह देती हैं। परन्तु इन तीनों वर्गों में सूर की विशेषता नहीं, उनका तो चतुर्थ वर्ग ही मनमोहक है, जहां उदासी, गंभीरता, शोक या विचारशीलता का नाम भी नहीं है। है केवल कहकहा मारकर विनोद का रस लूटना। जान पड़ता है यह वर्ग रास में भी अग्रणी था और इस सभा में भी, संकोच न होने के कारण, हमारा अनुमान है कि, इस वर्ग में वयःसन्धि की किशोरियां ही रही होंगी।

सूर की इन किशोरियों की विचारधारा का एक ही सार है कि एक वेगभरे कहकहे से उदासी के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देना चाहिये। उनके कथन में कहीं भी अभिधा से काम नहीं लिया गया, उनके प्रत्येक शब्द में वक्रता है—एक छिपी हुई चंचलता है। उद्धव के ही शब्दों में वे उससे यह स्वीकार करा लेना चाहती हैं वह बिना सींग और पूछ का है। कोई कहती है—‘उद्धव जी, सोच लो, शायद श्याम ने तुमको यहां नहीं भेजा अन्यत्र भेजा होगा, तुम पथभ्रष्ट होगये हो।’ दूसरी कहती है, ‘नहीं री, यह संदेश श्याम का थोड़े ही है, यह तो कुब्जा रानी का है...क्यों उद्धव जी ठीक है न?’ अन्य कहती है—‘अच्छा ठहरो, यह बतलाइए उद्धव जी, कि जब श्याम ने आपको यहां भेजा था (देखो, तुमको मेरी शपथ है, हँसो, नहीं है, ठीक-ठीक

बतलाना) हां, तो उस समय उनकी मुखमुद्रा कैसी थी ? (आंख बंद करके सोच लो थोड़ी देर) वे मुसका रहे थे न ?' अन्त में एक मुंहफट गोपी ने साफ-साफ ही कह दिया—'वाह, मिस्टर उद्धव, आप खूब आये, आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, यहां पर सभी लोग उदास थे आपने अपनी बुद्धूषण की बातों से हम लोगों का बड़ा मनोरंजन किया :—

“ऊधौ ! भली करी तुम आये ।

ये बातें कहि-कहि या दुःख में ब्रज के लोग हँसाये ॥”

सूर की इन गोपियों में स्त्री-जन-सुलभ विनोद, तथा रसिकता है, परन्तु नन्ददास ने वातावरण बदल दिया । इनकी गोपियां विदुषी हैं, भाषा बोलती है संस्कृत मिश्रित, बातें करती हैं सोडेश्य (दू दी पाइन्ट), और तर्क भी देती हैं अकाट्य । इनका उद्धव से शास्त्रार्थ होता है, जिसमें वे यह सिद्ध कर देती हैं कि भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से उत्तमतर है, यह भक्तियुग की एक विशेषता थी कि सभी महात्मा भक्ति की सरलता एवं साध्यता समझा कर उसको ज्ञान की अपेक्षा बढ़कर बतलाया करते थे, गोस्वामी तुलसीदास ने भी ऐसा ही किया है । सूर की गोपियों के समान नन्ददास की गोपियां भोजीभाली तथा अपने में ही सन्तुष्ट रहने वाली नहीं हैं, न वे उनके समान यह कहती हैं कि उनके लिए भक्ति ही अच्छी है औरों का पता नहीं । नन्ददास की गोपियां इससे कम संबन्ध रखती हैं कि उनके लिए क्या अभिन्न उपयुक्त है, उद्धव को इन व्यक्तिगत बातों से प्रयोजन ही क्या, परन्तु वे सदा के लिए यह सिद्ध कर देना चाहती हैं कि ब्रह्म की निर्गुण उपासना सारहीन है—भक्ति का मार्ग ज्ञान या तप के मार्ग से श्रेष्ठ है । इन गोपियों को अपढ़ या ग्रामीण न समझना चाहिए, वे ज्ञानी उद्धव के भी दांत खट्टे कर

सकती है। इस भांति सूर तथा नन्ददास के दृष्टिकोण में वातावरण का भेद है, एक में हृदय प्रधान है दूसरे में बुद्धि, एक कवि है दूसरा दार्शनिक ॥

हमने ऊपर बतलाया है कि शृंगारी युग में 'भ्रमर गीत' का कथानक भक्ति-ज्ञान का ऋगड़ा न रह सका। अधिकतर कवियों में ऐसे फुटकल छंद पाये जाते हैं, जिनमें "ऊधौ", "कान्ह", "मधुप" आदि संबोधन इस प्रसंग की ओर संकेत करते हैं। इस वर्णन को नायिका-भेद ही कहा जावेगा। "कान्ह" सामान्य नायक, तथा "राधा" सामान्य नायिका का नाम पड़ने से "कुब्जा" सर्वत्र सपत्नी का ही द्योतक है, बेचारे उद्धव मानो दूत (दूती) हैं, गोपियां भोगविलास और केलिक्रीड़ा की ही इच्छुक हैं—कान्ह से उनका इतना ही प्रेम जान पड़ता है। हृदय की परवशता, विकारहीन स्मृति, तथा शुद्ध उपालंभ यहां है ही नहीं। उद्धव मानो कुब्जा के पठाये हुए हैं, इसलिए उनको भदे उपालंभ भी सुनने पड़ते हैं, कहीं-कहीं अश्लीलता भी आगई है। वस्तुतः इन गोपियों ने 'भक्ति' को 'भोग' समझा, और कुब्जा को विजयिनी सपत्नी, 'ज्ञान' का 'वैराग्य' बनकर "प्रिय से वंजित हो जाना" बन गया, उद्धव मानो यही सन्देश लाये थे कि कुब्जा को भोग और गोपियों को 'जोग' का मिलना उचित ही है।

शृंगार के अन्तिम प्रतिनिधि जगन्नाथदास 'रतनाकर' हैं, उनका 'उद्धवशतक' रीतिकाल के आदर्श पर कवित्तों में ही है—पदों में नहीं। उनकी गोपियां सूर तथा नन्ददास की गोपियों का भी सस्संग प्राप्त कर चुकी हैं परन्तु उनकी अभिन्नता रीतिकालीन गोपियों से है। अशिष्टता से भी रतनाकर को अधिक अरुचि नहीं जान पड़ती। इन गोपियों को हम प्रेम की भिखारिणी ही पाते हैं जिनकी आंखों में

आंसू हैं, मन में ध्यान है, और कलेजे पर हाथ है, वे मन को मारकर और हृदय के मरोरे सहती हुई अपने दिन काट रही हैं। वहां कुछ तर्क भी है और कुछ प्रमाद भी, हृदय की जलन भी है और सपत्नी पर रोष भी, अधिकतर बातें दूसरों से ले ली गई हैं। इन गोपियों का मुख्य हठ यह है कि वे श्याम को चाहती हैं न भोग चाहती हैं न योग, उनको मुक्ति की तनिक भी कामना नहीं है—और इस पागलपन का कारण वही समझ सकता है जिसने श्याम को उनकी आंखों से देखा है :—

- (१) सरग न चाहैं अपवरग न चाहैं, सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम ॥
- (२) ब्रह्म मिलिबै तै कहा मिलि है बतावौ हमैं
ताकौ फल, जब लौं मिलै ना नंदलाला हूं ॥
- (३) ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते न नैंकु,
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियाँनि तैं ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रियप्रवास' में राधा को स्वकीया नायिका का रूप देकर भ्रमरगीत के प्रसंग को एक नया मार्ग दिखाया है, यहां कृष्ण भी 'कन्हैया' के रूप में नहीं आये इसलिए अन्य गोपियों का दुःख यशोदा का दुःख है तथा राधा का दुःख गृहिणी का दुःख है। इसलिए राधा ने अपने लिये सुखभोगों को त्यागकर अपने को जनसेवा के उम महान् कार्य में लगा दिया जिसके लिए उसका प्राणों से प्यारा कृष्ण ब्रजभूमि से दूर रह रहा था। कृष्ण से वियोग एक लोकप्रिय जनसेवक से वियोग है जिसका प्रभाव सब पर समान रूप से पड़ता है :—

सुखद थे बहु जो जन के लिए,
फिर नहीं ब्रज के दिन वे फिरे।

मलिनता न समुज्ज्वलता हुई,

दुखनिशा न हुई सुख की निशा ॥

भ्रमरगीत का आधुनिक सांचे में ढला हुआ रूप सत्यनारायण कविरत्न का “भ्रमर-दूत” है। यहां नन्ददास के से टेकवाले पदों में गोकुल को भारतीय ग्राम तथा मथुरा को आधुनिक नगर मानकर ग्रामीण जीवन के सुख तथा नागरिक जीवन के दिखावे की तुलना की गई है, दूसरे शब्दों में लेखक ने पुरानी सभ्यता और नई सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, यह बतलाया है कि नई सभ्यता में सुख तथा संतोष नहीं है। यशोदा अपने संदेश में उद्धव को बतलाती हैं कि नगर में न शुद्ध दूध मिलता होगा न जो भर कर मक्खन, श्याम को वे वस्तुएँ बड़ी प्रिय थी वह किस प्रकार इन वस्तुओं के बिना सरुचि भोजन करता होगा। इसी प्रकार ग्रामीण जीवन के दूसरे पक्षों पर विचार करते हुए गोपियाँ बतलाती हैं कि ग्राम का प्रेम सच्चा होता है नगर का प्रेम केवल दिखावा मात्र होता है। कवि ने आधुनिक सभ्यता में रंगी हुई ललनाओं की फैशन उनके हावभाव का गोपियों द्वारा बड़ा ही उपयुक्त उपहास कराया है :—

“अब कीं गोपी मदभरी, अधर चले डिगुलौंय ।

चारि दिना की छोकीरी, इतनी गई इतरांय ॥

जहाँ देखौ तहां ॥”

(आजकल की छोकियाँ बड़ी ही मदमती हैं, वे नाचती हुई सी चलने में—ऊँची एडियों की सैडलों के कारण—पृथ्वी पर पैर भी नहीं रखतीं, कल की बालिकाएँ होकर भी हवा से बातें करती हैं ।)

श्रीमद्भागवत का वह पुराना प्रसंग निश्च ही नवीन रुचि का विषय बनता चला आ रहा है, समय के परिवर्तन के साथ कवियों ने उसको नवीन नेत्रों से देखकर नवीन सामग्री से सजाया है। अधर कुछ

दिनों से कविजन मानो उसको भूल बैठे हैं, वस्तुतः इस मधुर प्रसंग के सहारे सिद्धान्त-प्रतिपादन में बड़ी सरसता आ सकती है, यह कविरत्न तक के प्रयास से तो स्पष्ट ही है। अभिधा के सहारे जीवित रहनेवाले कवि यदि इस प्रसंग को अपनावें तो उनको अपने प्रचार-कार्य में अपूर्व सफलता मिल सकती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त के “द्वापर” में इस प्रसंग की अवतरणा है परन्तु वह न तो समय के अनुकूल है और न परिपाटी को ही नवीन गति देती है।

रहस्यवाद

(१)

प्राथमिक अवस्था के मानव ने अपनी परवशता का अनुभव उस दिन किया होगा जिस दिन अशरीरी मृत्यु निर्भय होकर उसके सामने आई और उसके दिल के किसी प्राणी को डंके की चोट उठा कर ले गई। इस घटना का प्रथम प्रभाव भय की उत्पत्ति थी, जो लोग अपने को तुच्छ समझ कर अपने से भिन्न रूप वाले वृक्ष, पत्थर आदि से डर कर उनकी पूजा करने लगे उनका विकास रुक गया क्योंकि भय एक तामसिक मनोवृत्ति है इसके राज्य में ज्ञानोदय नहीं हो सकता। जो दिल भयभीत न होकर उस अपार शक्ति की खोज में लगा उसके हृदय में विस्मय या आश्चर्य की भावना का प्राधान्य रहा, वैदिक ऋषि ने “कस्मै देवाय हविषा विधेम” कह कर ऐसी ही जिज्ञासा प्रकट की है और उस शक्ति को आत्मदा, बलदा तथा सभी प्राणियों का स्वामी एवं अपना बन्धु (स नो बन्धुर्जनिता स विधाता) कहकर उससे दीर्घायु, अभय तथा सम्पन्नता की याचना की है। जैसा कि सभ्यता के इतिहास से स्पष्ट है आश्चर्य की इस मनोवृत्ति ने उस बहुमुखी

ॐ आश्चर्यं वत्पश्चात् कश्चिदन माश्चर्यं वदति तथैव चान्यः । (गीता)

विचारधारा को जन्म दिया जिसको दर्शनशास्त्र कहा जाता है । परन्तु उस अपार शक्ति के प्रति एक तीसरे प्रकार की मनोवृत्ति भी दिखलाई पड़ती है जिसको अनुराग कह सकते हैं, और जिसका सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से न होकर साहित्य से है ।

निराकार को अपना बन्धु कह कर उसके अनुराग में तन्मय हो जाना वेदकाल से ही पाया जाता है और आग भी भक्त दार्शनिकों ने “त्वमेव माता च पिता त्वमेव” या “तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै” (तुलसी) कह कर उसके प्रति अपनी पूजा और प्रेम को समर्पित किया है, परन्तु काव्यात्मक (जो पाठक या श्रोता को भी उतना ही तल्लीन कर सके) तन्मयता सगुण भक्ति तथा रहस्यवाद के काव्यों में ही दिखलाई पड़ती है । रहस्यवादी कवि उस बन्धु के अनुराग में डूबने के लिये उसको अपना निकटतम तथा समान स्तर का सम्बन्धी कहता है, इसलिये उसका अनुराग दाम्पत्य है—वह उससे पति अथवा पत्नी का सम्बन्ध मानता है ।

परन्तु रहस्यवाद को शृंगार न समझ लेना चाहिये । रहस्यवाद में प्रिय निराकार होता है और उसके प्रति अपने हृदय की वृत्तियों को उन्मुखी करने के लिए उपासक उसकी प्रतीक्षा अथवा विरह का अनुभव करते-करते अपने मन को संसार से हटा लेता है और अन्तमें उसमें तन्मय होकर संयोगात्मक आनन्द को प्राप्त करता है ।) रहस्यवाद में भौतिकता का लेशमात्र भी नहीं होता, उसमें न दाम्पत्य रति का वर्णन होगा, न शृंगारी चेष्टाओं का, जिस प्रकार प्रियतम न स्त्री है न पुरुष परन्तु उसमें वैसी भावना को जाती है उसी प्रकार उपासक भी न स्त्री है न पुरुष—वह (कबीर की भाँति) पुरुष होकर भी पत्नीभाव से उसकी भावना कर सकता है । दूसरी बात यह है कि साधक तथा साध्य का सम्बन्ध अत्यन्त वैयक्तिक होते हुए भी साधक का साध्य

पर एकाधिकार नहीं होता, वह अनेक साधकों की उस प्रकार की साधना का आधार हो सकता है—घनानन्द ने उसको “जगत् के प्रान” कहा है — परन्तु शृंगार में ऐसा नहीं होता ।

हिन्दीसाहित्य के इतिहास में माधुर्य भाव की उस भक्ति का भी नाम आता है जिसके अनुसार साधक अपने को साध्य की पत्नी मान कर अपने में स्त्रीभाव उत्पन्न करता हुआ जनाना शृंगार करके अपने कामिनी-जन-सुलभ हावभावों से प्रिय को रिक्ताने का प्रयत्न किया करता था । इसको रहस्यवाद नहीं कह सकते, क्योंकि यहां भौतिकता का राज्य है न कि भावुकता का, दूसरे यहां प्रिय निराकार नहीं है उसकी मूर्ति भी है और अवतार भी । सखीभाव की भक्ति भी इसी-लिए रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं आ सकती ।

भक्ति तथा रहस्यवाद दोनों में तन्मयता अवश्य ही एक सी होती है, परन्तु दोनों का भेद स्पष्ट है । भक्त भगवान् को सगुण मानकर उसकी एक मूर्ति बनाता है और उस मूर्ति से सम्बन्धित अवतार की उन लीलाओं का गान करता है जो उस अवतार ने मानव शरीर धारण करके की थी । इसीलिए सूर के कृष्ण की रास लीलाएं भक्ति के अन्तर्गत आती हैं, और विद्यापति के कृष्ण की शृंगारी लीलाओं का गुणगान भी भक्ति ही कहलावेगा । अवतारवाद में राम हैं तो सीता भी है, कृष्ण हैं तो राधा भी हैं, और दोनों ही मिल कर उपास्य बनते हैं, इसलिए उपासक दूर खड़ा रह कर उनकी लीलाओं को देखता हुआ आनन्द प्राप्त करता रहता है, स्वयं सक्रिय भाग नहीं ले सकता । परन्तु रहस्यवाद में उपास्य अवतार तो लेता ही नहीं है, युगल रूप में भी नहीं आता— वह या तो पुरुष है या स्त्री — इसलिये उपासक उसके जोड़े का एक व्यक्ति स्वयं बन जाता है । अस्तु, रहस्यवाद में न मूर्ति या अवतार होता है और न लीलागान, परन्तु भक्ति इन्हीं के ऊपर खड़ी होती है ।

प्रसंगवश रहस्यवाद तथा छायावाद का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। रहस्यवाद का मूल आनन्द है, रहस्यवादी उस प्रियतम के अनुराग में इतना तन्मय हो जाता है कि उसको खिन्नता या उदासी दिखलाई ही नहीं पड़ती, जहां प्रतीक्षा अथवा विरह है वहां भी नैराश्य न होकर उत्साह होता है, परन्तु छायावाद की उत्पत्ति इसके विपरीत है। यह असम्भव नहीं कि रहस्यवादी संसार से खिन्न होकर इस मार्ग पर आया हो परन्तु जबसे वह इधर आया उसका अवसाद किनारा ही कर गया। दूसरी बात यह है कि छायावाद में श्रृंगारी चेष्टाओं का वर्णन होता है, जो रहस्यवाद में ग्राह्य नहीं। तीसरी बात यह है कि छायावाद में उपास्य और उपासक का वह वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं होता जो रहस्यवाद का प्राण है। छायावाद में प्रकृति को अनेक वस्तुओं को प्रतीक रूप में लाना आवश्यक होता है, परन्तु रहस्यवाद में इसकी कोई आवश्यकता नहीं।

कुछ विद्वान् रहस्यवाद के प्रति हमारे इस संकुचित दृष्टिकोण पर आपत्ति करते हुए यह कहेंगे कि इस प्रकार रहस्यवाद का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होजावेगा, उसका विस्तार भी हमने कम कर दिया है और उसका जन्म भी हम बहुत पीछे मानते हैं। विद्वानों ने उपनिषदों के “हन्त त दूरं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्”, “हंसः शुचिषद्,” “पुरमेकादशद्वारम्,” अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः” तथा “ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः” आदि उद्धरणों की छाया कबीर में देख कर उस वर्णन को रहस्यवाद कह दिया है। हमारी उन विद्वानों से यह प्रार्थना है कि ‘रहस्य’ तथा ‘रहस्यवाद’ को एक ही वस्तु न कहना चाहिये, तथा साधना-क्षेत्र के हठयोग को काव्य के रहस्यवाद से अलग रखना ही ठीक है। वस्तुतः हठयोग का प्रभाव एक सामयिक तथा परम्परागत प्रभाव था, जो सभी (विशेषतः पीछे के) रहस्यवादी कवियों पर नहीं मिलता। इसमें सन्देह नहीं

कि हठयोग भी एक बड़ा 'रहस्य' है, परन्तु रहस्यवादी कवियों से उसका अनिवार्य सम्बन्ध नहीं ।

हठयोग के समान अद्वैतवाद का भी रहस्यवाद पर शासन रहा है और कुछ प्राचीन तथा कुछ अर्वाचीन कवियों ने अद्वैत के 'रहस्य' का काव्यमयी भाषा में वर्णन किया है, परन्तु हम उसको दर्शनशास्त्र का ही विषय समझते हैं और काव्य के रहस्यवाद का उसको अनिवार्य अंग नहीं मानते । रहस्यवाद का स्वरूप ही भावुक है उसका सम्बन्ध मनोविज्ञान से तो है परन्तु दर्शनशास्त्र के शुष्क सूत्रों से नहीं ।

रहस्यवाद का आधार एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक सत्य है । मन स्वभाव से ही बड़ा चंचल है, वह विषयों के पोछे दौड़ता हुआ उनके योग-क्षेम में लगा रहता है, संसार के दुःख का यही कारण है । मन के इस बन्धन से छुटकारा दो प्रकार से मिल सकता है, प्रथम तो यह कि मन पर अधिकार करके सब विषयों से विरक्ति कर ली जावे, दूसरा यह कि मन पर अधिकार न करके उसके मार्ग में थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया जावे अर्थात् मन विषयों की ओर जितना तेजी से दौड़ता है उतनी ही तेजी से उसको भगवान् की ओर दौड़ाया जावे । यह स्पष्ट है कि ऐसा करने के लिए उपास्य में भी आकर्षण उत्पन्न करना पड़ेगा, अनेक गुणों से युक्त अवतार की कल्पना का यही कारण है । यदि मन के सामने से इन्द्रियों के विषय बिल्कुल ही हटा दिये जायें और उसके वेग में कोई कमी न की जावे तो सारी कामनायें भगवान् को अर्पित हो जाती हैं, विषयों का ध्यान तो कामनाओं को उत्पन्न करता है परन्तु स्थितप्रज्ञ होकर मन का विषय भगवान् को बनाने से सहज ही कल्याण की प्राप्ति हो सकती है । इसीलिए संसारी प्रेम में तत्पर होकर जब प्रेमी संसार को भूल जाता है तो उसको भगवत्प्रेम की प्राप्ति होती है, सूफियों की ससोम से असीम की उपासना का

बही रहस्य है। रहस्यवाद में भी साधक अपने मन पर विजय पाने का प्रयत्न तो नहीं करता प्रत्युत अपनी कामनाओं का विषय भगवान् को बना लेता है, दाम्पत्य प्रेम में मन सबसे अधिक रमता है इसलिए रहस्यवादी अपने उपास्य से दाम्पत्य सम्बन्ध ही मानता है। ध्यान रखना होगा कि मन के निग्रह में सदा एक पराजय की आशंका रहती है, इस कार्य में कभी कोई सफल नहीं हुआ, परन्तु मन को एक नया मार्ग दिखा देने में इस प्रकार का कोई डर नहीं कि मन उस मार्ग को एकदम छोड़ कर फिर विषयों की गली में आ कूदेगा।

आधुनिक मनोविज्ञान भी यही कहता है कि कामनाओं पर निग्रह नहीं हो सकता उनके पथ को बदला जा सकता है ठीक वैसे ही जिस प्रकार कि एक वेगवती नदी को न तो हम उद्गम की ओर लौटा ही सकते हैं और न उसके प्रवाह को वहीं रोक सकते हैं, हां प्रवाह में जितना अधिक वेग होगा उसके पथपरिवर्तन में उतनी ही आसानी होगी। वर्तमान मनोविज्ञान का मत है कि प्रत्येक मनुष्य में पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व दोनों ही अंशतः पाये जाते हैं परन्तु एक को दबाकर केवल दूसरे को ही व्यक्त करने की प्रथा संसार में है, यही दुःख का कारण है, जिस मनुष्य में केवल पुरुषत्व ही प्रकट है स्त्रीत्व नहीं, उसका पुरुषत्व अपने से बाहर किसी स्त्री में स्त्रीत्व प्राप्त कर अपने को पूरा बना कर आनन्द-मग्न होने का प्रयत्न करता है, यदि यह खोज बाहर न करके भीतर की जावे (क्योंकि भीतर भी भिन्नत्व है ही) तो मनुष्य को आत्मरति में परमानन्द की प्राप्ति होगी ॥ मैं समझता हूँ कि हमारे रहस्यवाद की आधुनिक व्याख्या इस सिद्धान्त से भी ठीक-ठीक हो सकती है, जिस संयोग-सुख के लिए हम बाहर घूमते फिरते हैं वह हमको अपने ही भीतर मिल जाता है और चाहिए ही क्या; शास्त्रों में

॥ देखिए “साइक्लोजी” (फरवरी १९५१) में श्री मार्क पुलक का लेख “दी हाइर परपज आफ सेक्स” (पृ० २७)।

तो यहां तक कहा है कि ब्रह्मानन्द विषय के सुख से सहस्र गुना होता है, 'आत्म-रति' शब्द को भी इसी छायामें समझना हमारी सहायता करेगा ।

अन्त में एक पक्षपात की बात यह कह देनी पड़ती है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का मन रहस्यवाद में अधिक लगा है, देवदासी अंदल, सूफी रबिया और भक्तिन मीरा का नाम तो प्रसिद्ध है ही उपासिका ताज भी नन्द के कुमार की बांकी सूरत पर कुरबान होकर 'हिन्दुवानी' होने को तैयार थी, आजकल श्रीमती महादेवी वर्मा को रहस्यवादियों में प्रमुख स्थान प्राप्त है । इसका कारण खोजने के लिए हमको दूर नहीं जाना पड़ता । स्त्री में त्याग और भक्ति दोनों ही अधिक पाये जाते हैं, वह संसार की सभी वस्तुओं को ठुकरा करके अपने मन को एक ओर लगा सकती है, वह जीवित पति की छायामें बन जाती है और स्वर्गीय पति की पुजारिन, इसलिए अपना मन निराकार उपास्य में लगाकर उसकी पतिव्रता बन जाना उसके लिए कठिन नहीं— भारत की बालविधवा का तो यह सामान्य जीवन है । आप कहते हैं कि स्त्री स्वभावतः चंचल होती है, शायद ठीक भी है, परन्तु यह मत भूलिए कि उसका मन जब किसी वस्तु पर जम जाता है तो फिर हटाने पर भी नहीं हटता, यही उसका समर्पण है, और इसीलिए वह सहज ही रहस्यवादिनी बन जाती है ।

(२)

कबीर हिन्दो के सर्वप्रथम रहस्यवादी कहे जा सकते हैं, परन्तु उनके रहस्यवाद पर अद्वैतवाद तथा हठयोग दोनों का ही प्रभाव है, हठयोग उस समय की सामान्य चर्चा थी और शंकर का अद्वैत विद्वानों तथा शास्त्रों की गहन पहुँच, कबीर विद्वानों से सुन कर सामान्य जनों को तदनुकूल बना कर सुनाते थे, इसलिए उनके विचारों में दोनों की प्रचलित बातों का आ जाना स्वाभाविक ही है, डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के रहस्यवाद में हठयोग की शब्दावली को बड़ा महत्वपूर्ण

स्थान दिया है। रहस्यवादी कबीर में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्यक्ष जीवन में पुरुष होते हुए भी वे अपने को 'राम की बहुरिया' मानते हैं, यह बात हिन्दी के किसी दूसरे कवि में नहीं मिलती, अनुमान से यह कह सकते हैं कि कबीर में यह प्रवृत्ति कृष्ण-भक्ति के उस सिद्धान्त के अनुकूल है जिसके अनुसार केवल भगवान् श्रीकृष्ण तो पुरुष हैं शेष सभी (उनके सम्बन्ध से) स्त्रियां हैं। विचार करने पर जान पड़ता है कि कबीर के रहस्यवाद का प्रारम्भ सांसारिक दुःख से हुआ था, जब उन्होंने यह देखा कि आत्मा के साथ न माता, पिता, बन्धु, सुत, तिरिया, में से कोई जाता है और न संसार का वैभव तो उनके मन में एक दरार पड़ गई और वे पर्वत-पर्वत पर खोज करने लगे, उनको अनूप तत्व मिल गया, वे उसकी प्रतीक्षा में बैठे रहते थे, अंत में कबीर ने नेत्रों को कोठरी बनाई, जिसमें पुतली रूपी पलंग विछाया और पलकों की चिक गिरा कर उस प्रिय को रिम्मा लिया। कबीर में यह रहस्यवाद अधिक नहीं मिलता, सम्भवतः कोई विद्वान् मेरे इस कथन का प्रतिवाद करें इसलिए मैं पहले ही निवेदन कर देता हूँ कि जनता के कबीर साखीकार हैं न कि पद रचने वाले, और साखियों में यह रहस्यवाद विरल ही है, रहस्यवाद मुख्यतः तो पदों या गीतों में ही है और वहां भी मिश्रित, शुद्ध नहीं।

सूफी कवियों का रहस्यवाद एक नवीन ही प्रकार का है, उन्होंने उपास्य और उपासक में दाम्पत्य सम्बन्ध तो माना है परन्तु वे स्वयं उस जोड़े के अर्धांग नहीं बने। हां उनको रहस्यवादी कहा जाता है, क्योंकि उनकी विचारधारा में यदि कवि स्वयं भाग नहीं लेता तो वह प्राप्य को भी ब्रह्म नहीं कहता, उसके साध्य और साधक प्रतीक मात्र है जिनमें साधक अन्य व्यक्तियों के समान स्वयं कवि का भी प्रतिनिधि है। दूसरी बात जिस पर विद्वानों का ध्यान गया है, यह है कि हमारे सूफियों का प्राप्य पुरुष न होकर स्त्री है, इससे एक विशेष

लाभ यह है कि पुरुष कवियों को अपनी वृत्तियों के उन्मुखीकरण में बढ़ी आसानी होती है और क्योंकि स्त्री स्वयं सौंदर्य का आगार है इसलिए उस प्राप्य का चित्ताकर्षक वर्णन भी स्वाभाविक ही लगता है। यदि जायसी द्वारा लिखित 'पद्मावत' पर ध्यान दें तो उसको भारतीय भक्तिकाव्य के साथ रख देने की इच्छा होती है, रामकथा और रत्नसेन-पद्मावती—कथा में अन्तर ही क्या है ? दोनों में मानव जीवन की सामान्य घटनाओं का वर्णन है और कवि ने अपने मत के अनुकूल कुछ विशिष्ट आदर्शों की स्थापना की है, जिस प्रकार तुलसी पाठक को बीच बीच में सावधान करते जाते हैं कि राम सीता को मानवमात्र मत समझ लेना, उसी प्रकार जायसी ने भी आध्यात्मिक संकेतों द्वारा अलौकिकता पर बार बार जोर दिया है। फिर भी हम 'पद्मावत' को अवतार काव्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें न अवतार है न मूर्ति है, है केवल निराकार से उल्लासोत्पादक दाम्पत्य प्रेम, जिसमें यदि व्यक्तिगत सम्बन्ध भी होता तो उसको शुद्ध रहस्यवाद कह सकते थे।

देववासी अंदल और सूफी रबिया की चर्चा ऊपर आ चुकी है, मीरा और ताज हिन्दी में कविता करती थीं, ताज का साहित्य उपलब्ध नहीं है परन्तु उसका प्रसिद्ध कवित्त उसके व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्शन करा देता है। उसको नन्द के कुमार की बांकी सूरत पर कुरबान होने वाली प्रेमिका कह देना चाहिए। मीरा ने भगवान् श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया था और वह सच्ची पतिव्रता के समान उसके वायदों पर विश्वास करती हुई उसकी प्रतीक्षा करती रहती थी, उस वेदना में संयोग-सुख का जो विश्वास है वही उल्लास का कारण बन जाता है। बहुत से लोग मीरा को अवतारी कृष्ण की उपासिका कहकर उसमें भक्ति की भावना देखना अधिक उचित समझते हैं, हमारा उनसे यही निवेदन है कि यद्यपि मीरा के कृष्ण अवतारी हैं परन्तु वे उतने ही अवतारी

हैं जितने कि कबीर के राम हैं— वस्तुतः मीरा ने कृष्ण की लीलाओं के गीत नहीं गाये प्रत्युत उनमें स्वयं नायिका बन कर भाग लिया है, इसलिए पौराणिक नामों के होते हुए भी उसके गीतों में रहस्यवाद माना जावेगा ।

रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि हुए जो कृष्ण के मनोहर रूप पर अपना सर्वस्व लुटा चुके थे, इनमें से अधिकतर लोगों ने प्रारम्भ में किसी संसारी पुरुष या स्त्री को प्रेम किया था परन्तु जब प्रेम भौतिक से अभौतिक हो गया तो उन्होंने देखा कि वे 'जगत् के प्रान' को प्यार करते हैं, रसखान और घनानन्द ऐसे ही प्रेमी थे । इनमें सूफियों के सिद्धांतों को तो प्रत्यक्ष ही देखते हैं, रहस्यवाद का प्रभाव भी माना जा सकता है, अन्धत्र हम यह बतलावेंगे कि छायावादी कवियों को भी इन्हीं परिस्थितियों में रहना पड़ा है ।

आधुनिक युग में रहस्यवाद की एक बार फिर याद आई, आलोचकों के सामने तो यह छायावाद से घुल मिलकर बार-बार आता ही रहता है । ध्यान इस बात पर जाता है कि वर्तमान रहस्यवाद हठयोग के शासन को स्वीकार न कर सका, प्रत्युत बुद्धिवादी अद्वैतवाद का अनुचर बन कर निकलना इसको रुचिकर बन गया है । दूसरी बात यह है कि इस भौतिकवादी युग में अपनी वासनाओं को ईश्वरोन्मुख करना सहज नहीं है इसलिए रहस्यवाद का डंका पीटने वालों में भी रहस्यवाद कम दिखलाई पड़ता है, अधिकतर लोग या तो ज्ञानी बन कर अद्वैतवाद की ओर चले जाते हैं या वासनाओं में फिसल कर छायावादी कहला पाते हैं । जितना भी थोड़ा-बहुत रहस्यवाद प्राप्त है उसमें महादेवी वर्मा को ऊंचा स्थान मिलता है, कारण हम ऊपर कह चुके हैं कि स्त्रियों में इसकी स्वाभाविक योग्यता होती है, परन्तु महादेवी जी अद्वैतवाद से बुरी तरह जकड़ी हुई हैं इसलिए उनमें

मीरा की तन्मयता नहीं मिलती। प्रसाद जी के गीतों में भी शुद्धता नहीं है और उत्तरकाल में तो वे शैव आनन्दवाद की ओर अधिक झुक गये थे, उसके पूर्व के गीतों की कुछ कड़ियाँ रहस्यवाद का सुन्दर उदाहरण बन जाती हैं, देवसेना का यह गीतः—

भरा नैनों में मन में रूप ।

किसी छलिया का अमल अनूप ॥ (स्कन्द गुप्त)

रहस्यवाद का माना जा सकता है, क्योंकि उसमें इसके सभी लक्षण मिलते हैं। “निराला” की “तुम तुंग हिमालय शृंग, और मैं चंचल गति सुरसरिता” कविता में आत्मा तथा परमात्मा के ‘अनेक’ सम्बन्धों की चर्चा है, उसको शुद्ध रहस्यवाद की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

सत्य तो यह है कि वर्तमान युग रहस्यवादी काव्य के लिए उपयुक्त नहीं है, इस युग में न तो आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध पर सिर खपाया जा सकता है, और न वासनाओं को किसी सूक्ष्म की ओर ही मोड़ा जा सकता है, इसलिए अर्वाचीन कवि का झुकाव रहस्यवाद की ओर न होकर छायावाद की ओर है। रहस्यवाद भी उसी वातावरण में अधिक पनपता है जिसमें भक्ति लहलहाती है भारत में अवतारवाद इतना प्रचलित हो गया है कि कवियों को रहस्यवाद की आवश्यकता कम ही पड़ती है, वे एक अधिक सहज सिद्धान्त—भक्ति—में विभोर होकर गुणगान करते हुए तन्मय हो सकते हैं, इसीलिए जहाँ भक्ति का घर-घर प्रचार है वहाँ रहस्यवाद विरल ही दिखलाई पड़ता है।

प्रसाद जी के स्त्री-पात्र

पुरुष-पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी को अधिक सफलता मिली है। उनकी नारी यौवन और विलास की आकांक्षाओं से परिप्लावित होती हुई भी पुरुष को ऊंचा उठाने वाली है, विद्वत्ता, वीरता, शक्ति, आदि मनुष्योचित गुणों से भलीभांति परिचित होती हुई भी वह इन गुणों के द्वारा किसी निश्चित ख्याति को प्राप्त नहीं करती। उसकी मुख्य विशेषता है—सेवा, त्याग प्रोत्साहन, क्षमा एवं उदारता का दिव्यप्रकाश। हम उसको प्रेरणा-शक्ति के रूप में देखते हैं, स्वयं रचनात्मक या विनाशात्मक कर्मों में तत्पर स्त्री के रूप में नहीं; वह कारियित्री है, कर्त्री नहीं।

प्रसाद जी के नाटकों को दृष्टिकोण में रखते हुए उनके समस्त स्त्री-पात्रों को हम तीन वर्गों में रख सकते हैं :—

(१) साधारण स्त्री-पात्र।

(२) गंभीर स्त्री-पात्र।

(३) दुर्बल स्त्री-पात्र।

साधारण स्त्री-पात्रों के वर्ग में वे नारियां आती हैं जिनका नायक या नायिका के निर्माण में कोई हाथ नहीं रहा और न मुख्य अथवा प्रासंगिक कथा में ही जिनका कोई विशेष महत्व है। प्रत्येक नाटक की सखियों तथा परिचारिकाओं के अतिरिक्त ‘विशाख’ की “रानी” “तरला” तथा “रमणी”, “चन्द्रगुप्त” की “मालविका” एवं “मौर्य-पत्नी” “स्कन्दगुप्त” की “रामा” “जयमाला” आदि भी इसी वर्ग में आती हैं। इन साधारण स्त्री-पात्रों का भले ही कुछ ऐतिहासिक महत्व भी हो और इनमें दो-एक प्रशंसनीय गुण भी पाया जाता हो, परन्तु नाटककार जीवन के संघर्ष तथा विषम परिस्थितियों में डालकर

इनका विकास दिखाना उचित नहीं समझता— ये पात्र उसकी वास्तविक सृष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं करते ।

द्वितीय वर्ग के स्त्री-पात्रों को हमने गम्भीर इसलिए कहा है कि इनमें एक प्रकार की गुरुता, उपदेशप्रियता या समझ अधिक है । इनके मानस में या तो दुर्बलता है ही नहीं, या यदि थोड़ी सी होगी भी तो नाम भर के ही लिए और केवल उस प्रकार की जैसी यौवन में प्रायः नहीं हुआ करती । ‘स्कन्दगुप्त’ की ‘कमला’ ‘ध्रुवस्वामिनो’ की ‘मंदाकिनी’ ‘चन्द्रगुप्त’ की ‘अलका’ तथा ‘विशाख’ की ‘इरावती’ इसी वर्ग में आती हैं ।

नाटककार ने इन गम्भीर पात्रों में चार ऐसे गुणों को रखा है जो इस वर्ग में सामान्य होने के कारण इन पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्टतः अंकित कर देते हैं । प्रथम सामान्य गुण यह है कि प्रत्येक नाटक में एक गम्भीर स्त्रीपात्र की अत्यधिक अपेक्षा रहती है; यदि उस नाटक से उस पात्र को निकाल दिया जावे तो नाटक का उद्देश्य कदाचित् पूरा नहीं हो सकता । यदि ‘कमला’ निराश स्कन्दगुप्त को प्रोत्साहित कर कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा न देती तो वे कभी भी विक्रमादित्य न हो पाते । इसी भांति ‘मन्दाकिनी’ ‘अलका’ आदि भी नाटक के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर द्वारा भेजी गई मूर्ति-मती प्रेरणाएं हैं ।

द्वितीय सामान्य गुण यह है कि इन गम्भीर पात्रों का अपना कोई स्वार्थ नहीं है; वे कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही आते हैं और वैसा स्वयं न करके तदर्थ योग्य पात्रों को यथासमय प्रोत्साहन देते हैं । इन पात्रों को हम श्रेयस्कारी दैवी प्रेरणाएं कह सकते हैं, इनका आगमन ठीक ऐसे समय पर होता है जब नायक अपने साहस को बिलकुल खोकर बैठ जाता है । हताश स्कन्दगुप्त को कमला ने,

अकस्मात् प्रकट होकर, जो सन्देश दिया था उसमें कितनी शक्ति है :—

“राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है ।”

इन पात्रों का तीसरा सामान्य गुण यह है कि इनका निकटतम संबंध किसी ऐसे पात्र से होता है जो नायक के उद्देश्य में एक भारी रुकावट डाल रहा हो, और ये गम्भीर पात्र अपने उस सम्बन्धी को छोड़कर — उसका अप्रत्यक्ष विरोध कर — कल्याणोन्मुख नायक की प्रेरणात्मक सहायता करते हैं । स्कन्दगुप्त नाटक में कमला का औरस पुत्र भटार्क अनंतदेवी के दल का प्रधान तथा नायक का सबसे बड़ा विराधी है कमला को इस बात का अत्यधिक दुःख है और कदाचित् इसी हेतु अपना कर्लक मिटाने के लिए वह सर्वदा स्कन्दगुप्त की अप्रत्यक्ष सहायता करती रहती है । चन्द्रगुप्त नाटक की “अलका” भी अपने पिता तथा सहोदर भाई आम्भीक को देशद्रोही जानकर उनसे अलग हो चन्द्रगुप्त, सिंहरण आदि की सहायता में तत्पर है । रक्त का निकटतम संबंध भी इन देवियों को कल्याण-पथ से नहीं हटा सकता, इनका भाग ‘अप्रत्यक्ष’ इसलिए है कि ये केवल सुधारात्मक कार्य ही करती हैं ध्वंसात्मक नहीं ॥

इन गम्भीर स्त्रीपात्रों का चौथा सामान्य गुण हृदय-क्षेत्र से ऊपर उठ कर बुद्धिक्षेत्र में पहुँच जाना है । इनको हम हृदयहीन तो नहीं कहते परन्तु, इनका हृदय हमको दुर्बलताओं से रहित जान पड़ता है । इस गुण को अधिक स्पष्ट करने के लिए नाटककार ने “कमला” को तो वृद्धा माता का रूप दिया है, परन्तु “अलका” में यौवन तथा सिंहरण के प्रति आकर्षण होते हुए भी कठोर कर्तव्य पालन की

कठोरता ही देखने में आती है, “मन्दाकिनी” में हमको यौवन के चिन्ह नहीं मिलते। वह वृद्धा न भी हो परन्तु “वृद्धस्वं जरसा विना” की अधिकारिणी अवश्य है।

अब प्रसाद जी के दुर्बल स्त्री-पात्रों को देखिये। ध्यान देने पर हमको दो प्रकार की दुर्बलता दिखलाई पड़ती है, एक में गांभीर्य है दूसरी में चांचल्य, एक माता की दुर्बलता है, दूसरी प्रेयसी की। इस प्रकार दुर्बल स्त्रीपात्रों के भी दो उपवर्ग बन जावेंगे; एक उपवर्ग उन नारियों का है जिनमें यौवनसुलभ प्रेम से भिन्न प्रकार की दुर्बलता है, और दूसरा उन रमणियों का है जो अपने कोमल हृदय में प्रेम तथा विलास की मार्मिक टीस लिए हुए संसार में विचरण करती हैं। “अनन्तदेवी” की श्वास में भले ही गर्मी हो और उसके कपोलों की लाल-लाल धाराएं भले ही विलास का संदेश देती हों परन्तु यह निश्चय है कि वह जो कुछ करती है अपने पुत्र को राजा बनाने के लिए ही करती है, उनके हृदय में न किसी के प्रति प्रेम है न आकर्षण, विलासी वृद्ध राजा को भी वह केवल अपने यौवन से ठगकर अपने काम निकालने का साधन भर बनाती है। इसी प्रकार ‘अज्ञातशत्रु’ में राजमाता “छलना” भी अपनी महत्वाकांक्षा के ही कारण सपत्नी से द्वेष एवं द्रोह करती है।

इस उपवर्ग में केवल माताएं ही आती हैं और उनकी दुर्बलता का कारण है सपत्नी से संभाव्य अवास्तविक भय, अन्त में उनमें सुधार हो जाता है और उनकी इच्छा भी पूरी हो जाती है। प्रसाद जी ने इस उपवर्ग का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है, वे इनकी आशंका को निर्मूल सिद्ध कर इनमें सुधार कर देते हैं—उन्होंने इनको पराजित कराकर भी इनकी हत्या नहीं कराई, समस्या की जड़ बनाकर भी अपमानित नहीं होने दिया। प्रसाद जी नारी-हृदय की उस दुर्बलता

को समझते थे जिसको वात्सल्य कहते हैं। एक ओर कल्याणपथ पर जानेवाली माता “कमला” है और दूसरी ओर विनाश की मूल माता “अनन्तदेवी” ! दोनों ही माताएं हैं, परन्तु दोनों में कितना अन्तर है !! एक में आदर्श है, दूसरी में यथार्थ; एक देवी है, दूसरी मानवी। सौतेली माता का यही रूप तो आदिकाव्य रामायण में मिलता है।

अब दुर्बलतापूर्ण नारीहृदय का दूसरा रूप देखिए। सुन्दरी स्त्रियों में रूप-गर्व तो स्वाभाविक ही है, परन्तु यदि उद्दाम यौवन का अजस्र स्रोत भी बह रहा हो तब तो वे अपने ऊपर कोई शासन नहीं मानतीं। “वे मुँह खोलकर सीधा-साधा प्रस्ताव नहीं कर सकतीं। परन्तु संकेतों से, अपनी कुटिल अंग-भंगियों के द्वारा प्रस्ताव से अधिक करके पुरुष को उत्साहित किया करती हैं... तब तो वे अपना सर्वस्व अनायास ही नष्ट कर देती हैं” (कंकाल)। प्रायः रमणी भूल करती है और हृदय में प्रेम उमंग भर कर वह अनेक उपद्रव करा दिया करती है।

स्कन्दगुप्त नाटक की “विजया” अपने यौवन की उमंग में जिस व्यक्ति को प्रेम करने लगती है उसको प्राप्त न कर सकने की जब उसे आशंका होने लगी तो वह इतनी भयानक बन गई कि उसने स्कन्द के राजनीतिक विरोधी भटार्क को वरण कर लिया। विजया को पुरगुप्त से प्रेम करने का भी अवसर मिला परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया, वह भटार्क को भी प्रेम नहीं करती—दिखावा भर करती है, उसका प्रेम महत्वाकांक्षा से भी नहीं है। जिस देवरेना की वह अन्यतम सखी थी उसको नीचा दिखाना, उसके जीवन का अन्त देखना ही तो विजया के जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया। दूसरी रमणी का विघ्न बनकर आना प्रणयवंचिता के मन में नायक के प्रति रोष उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत

नायक के उदासीन रहने पर भी वह केवल उस रमणी को ही अपराधिनी मानती है। प्रसाद जी ने “विजया” का अन्त आत्महत्या तथा आत्महत्या में दिखलाया है, इस श्रेणी की अन्य सभी रमणियों का यही अन्त है।

अज्ञात शत्रु नाटक की मागंधी (श्यामा) भी एक ऐसी ही भयानक रमणी है, परन्तु उसका नायक किसी दूसरी रमणी के चंगुल में नहीं है, इसलिए उसको आत्महत्या नहीं करनी पड़ती। ‘चन्द्रगुप्त’ की “मालविका” तो आजन्म “चन्द्रगुप्त” को प्रेम करती रही परन्तु वह इस बात को न जान पाया, अन्त में प्रणय तथा कर्त्तव्य का सच्चा प्रमाण देती हुई वह अपने जीवन का अन्त कर बैठी।

परन्तु “कल्याणी” जिस पुरुष को प्रेम करती है वही तो उसके पिता का विरोधी है। “अलका” ने भी पिता का विरोध किया और “कल्याणी” ने भी; परन्तु दोनों के विकास में अन्तर है, दोनों का अन्त भी भिन्न है, “कल्याणी” दोनों कर्त्तव्यों का पालन न कर सकती थी इसलिए उसने अपने हताश जीवन का अन्त कर लिया। ‘ध्रुवस्वामिनी’ की “कोमा” भी प्रेम की एक भूल कर बैठी थी परन्तु उसका नायक अपनी विजय-लालसा में उस प्रेम का मूल्य न जान पाया। “कल्याणी” तथा “मालविका” के समान ही “कोमा” को किसी रमणी से जलना नहीं है केवल अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाने हैं; वह आत्महत्या नहीं करती परन्तु एक बर्बर सैनिक के हाथ से उसके जीवन का अन्त हो जाता है।

प्रसाद जी का सर्वश्रेष्ठ स्त्रीपात्र ‘स्कन्दगुप्त’ की “देवसेना” है। उसके प्रेम में तो कोई बाधा नहीं है, परन्तु उसके दुर्बल नारीहृदय में प्रणय तथा लोकापवाद का संघर्ष है—उसके सामने वही समस्या है जिसके कारण भगवती सीता को वन-वन भटकना पड़ा। राम यह

जानते थे कि सीता शुद्ध है, उनको उसके चरित्र पर पूरा विश्वास था, परन्तु संसार की जीभ तो नहीं पकड़ी जा सकती; देवसेना यह जानती थी कि बन्धुवर्मा उसका विवाह स्कन्दगुप्त से करना चाहते थे, परन्तु आज संसार तो यह नहीं जानता। बन्धुवर्मा ने देश के लिए जो त्याग किया था उसका प्रतिदान लेकर देवसेना उस मृत आत्मा का अपमान न होने देगी, वह आजीवन दासी बनी रह सकती है परन्तु अपने हृदय-सम्राट् के गले लगकर अपने सुख में विभोर, नहीं हो सकती। कितने दुःख की बात है कि एक दूसरे को अटूट प्रेम करने वाले दो हृदय सदा एक दूसरे से सटे ही रहे फिर भी संसार की ईर्ष्याभरी आंखों से उनका मिलना न देखा गया। नाटककार ने भारतीय आदर्श की छाया में प्रणय तथा लोकापवाद का यह संघर्ष आशावाद के सहारे सुलझा दिया है—सीता के समान देवसेना भी दूसरे जन्म में प्रिय के निर्विघ्न संयोग की कामना करती हुई उस कठोर जीवन को बिता देती है।

नारी के संस्कार तथा उसकी परिस्थितियाँ उसको विरोधी-गुणान्वित एक अद्भुत प्राणी बना देते हैं; प्रणय, ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा तथा कर्तव्य उसको कोई भी रूप दे सकते हैं, परन्तु फिर भी वह 'अबला' ही है। उसका भोलापन (जो प्रेम का कारण बनता है), उसका साहस (जो उसे भयंकर बना देता है), तथा उसके संस्कार (जिन्होंने उसको 'अबला' बना दिया है) उसका सच्चा चित्र खींच सकते हैं। नाटककार के शब्दों से ही हमको एकमत होना पड़ता है :—

“स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क, और अपनी असहायता में निरीह है।” (कंकाल)

उर्मिला की पूरक यशोधरा

माता, भगिनी तथा भार्या—नारी के इन तीन रूपों में से गृहस्थ के चित्र खींचने वाले हमारे कवियों ने प्रायः माता तथा पत्नी दो को ही काव्य का विषय बनाया है, भगिनी को नहीं। कारण संभवतः यह हो कि बहिन का हमारे जीवन-विकास में कोई प्रत्यक्ष सहयोग नहीं है; वह हमारे पास धरोहर के रूप में कुछ दिनों रहकर फिर किसी भी दिन अपने घर को सम्हालने जा सकती है इसलिए शैशव के मधुरतम चित्र खींचने वाले दिव्यचक्षु महात्मा सूरदास तक ने अपने मागर में भाई-बहिन के प्रेम की एक भी लहर न उठाई। गृहस्थ जीवन के आधुनिक चित्रकारों में श्री मैथिलीशरण गुप्त को भी पर्याप्त सफलता मिली है; उन्होंने 'साकेत' में 'उर्मिला' को भार्या के रूप में देखा है और 'यशोधरा' की नायिका को माता के रूप में भी—भगिनी का चित्र यहां भी आवश्यक न समझा गया।

'साकेत' की रचना कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हुई थी, इसमें कवि का एकमात्र उद्देश्य यही है कि चिरकाल से उर्मिला की जो उपेक्षा होती आरही है उसका ऋण व्याज सहित चुक जाना चाहिए। फलतः उर्मिला के जीवन का यथाशक्ति परिवर्धित रूप दिखाने का प्रयास सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है। परन्तु उर्मिला का जीवन इतना छोटा है कि उसमें अनेकरूपता मिल ही नहीं सकती—उसमें उसका एक ही रूप दिखलाई पड़ता है वह है विरहिणी का; आप चाहे उस रूप के लिए एक महाकाव्य लिख दीजिए चाहे एक पूरा पुराण। हां, उर्मिला के जीवन को लेकर जितना ही बड़ा काव्य लिखा जायगा उतना ही उसमें उर्मिलापन कम मिलेगा; 'साकेत' इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि 'साकेत' की नायिका के अनेकरूपता-

विहीन जीवन को लेकर जो महाकाव्य लिखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है उसमें एक समान्य नायिका के विरह वर्णन के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता; कारण कवि की असमर्थता नहीं, प्रत्युत कथानक का तादृश रूप है—विरहिणी नायिका का १४ वर्ष का जीवन गीतकाव्य के उपयुक्त है और यदि उसको वैसा बनाया जाता तो रचित काव्य हिन्दी में 'मेघदूत' के समान लोकप्रिय हो सकता था ।

'साकेत' को लिखने में एक दूसरी भूल भी होगई, वह यह कि कवि समय के सुधारात्मक दृष्टिकोण को अनदेखा कर गया । रीतिकाल तक आते-आते नारी का जो कामिनीरूप ही शेष रह गया था, (जिसमें संयोग का भोगविलास और वियोग की हाय-हाय ही दिखलाई पड़ती है) उसको इस काव्य में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया । परन्तु हमारे कवि से पूर्व अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'प्रियप्रवास' में राधा का वह रूप दिखा चुके थे जिसमें सिर फोड़ने, बाल नौचने और हाय-हाय डकराने के स्थान पर शान्त तथा गम्भीर होकर अपने हृदय की आग को छिपाते हुए प्रिय के उस सेवा-कार्य में तल्लीन होजाना दिखलाई पड़ता है जिस प्रिय कर्त्तव्य के लिए प्रियतम अपनी अनन्यहृदया प्रेयसी तक को छोड़ गया था । यह सुधारवादी दृष्टिकोण प्रतिक्रिया के रूप में भी था, और समय के अनुकूल भी । अतः यह स्वाभाविक ही है कि काव्यशैली में उत्कृष्ट होते हुए भी 'साकेत' आदर्श की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' से पिछड़ा ही रहा ।

'यशोधरा' की रचना इन्हीं परिस्थितियों में हुई है, एक और कवि को यह संकेत मिला कि उर्मिला के समान दूसरी भी उपेक्षिताएँ हो सकती हैं और खोज करने पर यशोधरा मिल भी गई; कवि ने काव्य के

प्रारम्भ में “शुल्क” शीर्षक देकर इस बात को स्वीकार भी किया है। दूसरी ओर उसको यह भी अनुभव हुआ कि उर्मिला की अपेक्षा यशोधरा के जीवन में अनेकरूपता अधिक है; उर्मिला केवल भार्या है, यशोधरा भार्या भी है तथा माता भी; उर्मिला का पति उस काल का युगपुरुष नहीं है, यशोधरा का पति स्वयं भगवान् का अवतार माना जाता है; उर्मिला का पति जब बन से लौटता है तो उसका असाधारण जीवन समाप्त हो जाता है, यशोधरा का पति फिर भी त्याग तथा आदर्श का अभिलाषी है; तथा उर्मिला का पति माता-पिता के निर्देश में ही बन गया था, परन्तु यशोधरा का पति माता-पिता से छिपकर कहीं चला जाता है। कवि ने अपने मन के इस रहस्य को कहीं प्रकट तो नहीं किया, परन्तु “...और उसका श्रेय भी ‘साकेत’ की उर्मिलादेवी को ही है...” लिखकर और यशोधरा का चरित्र उपर्युक्त सूत्रों से रचकर इस प्रकार की संभावना को निर्मूल होने से बचा लिया है। तीसरी बात जो सुधारवादी दृष्टिकोण की थी उसने कवि को इतना उत्तेजित किया कि जहां उर्मिला के भाग्य में केवल आंसू बहाना लिखा है वहां यशोधरा के चरित्र की कुंजी उसका एकमात्र पश्चाताप “सखि, वे मुझसे कहकर जाते” ही हैं।

हम इन्हीं संकेतों पर यशोधरा के चरित्र का अध्ययन करेंगे। परन्तु आगे चलने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि यशोधरा उर्मिला का पूरक मात्र नहीं है, दोनों में कुछ सामान्य गुण भी पाये ही जाते हैं जिनका आधार यह है कि दोनों ही नारियां तथा पत्नियां हैं। अस्तु, नारी-हृदय की इन परिस्थितियों में जो सामान्य दुर्बलता होती है उसका चित्र ‘साकेत’ तथा ‘यशोधरा’ दोनों ही काव्यों में मिलता है, अन्तर केवल यह है कि ‘साकेत’ में उसका विस्तार है और ‘यशोधरा’ में केवल संकेत भर। उदाहरण के लिए ‘साकेत’ में जिस विरह-वर्णन का इतना विस्तार मिलता है उसको ‘यशोधरा’ में

कुछ ही छंद मिल सके हैं; षड् ऋतुओं को भी इस पिछले काव्य में एक-एक छंद ही प्राप्त हो सका, यशोधरा के पास मनोविनोदन के अधिक साधनों की भी आवश्यकता नहीं समझी गई। यदि यशोधरा के जीवन से इन दुर्बलताओं को निकाल दिया जावे तो वह रमणी का चित्र न बनकर पत्थर की प्रतिमा बन जावेगी। अस्तु, इन सामान्य बातों का विशेष उल्लेख हम आवश्यक नहीं समझते।

जैसा कि ऊपर संकेत भी किया है यशोधरा को इस बात का दुःख नहीं कि उनका पति तपश्चर्या के लिए वन को चला गया, यह तो उसके लिए बड़े गौरव तथा सम्मान की बात हो सकती थी कि वह ऐसे नररत्न की पत्नी है जो यौवन के सुखों का कुछ समय तक उपभोग करके ही उनकी क्षणभंगुरता जानकर उनका त्याग कर गया, दूसरी क्षत्रियाणी अपने प्राणों से प्यारे पति को बाहरी शत्रुओं से युद्ध करने के लिए विदा देती हैं, यशोधरा अपने प्रियतम को आंतरिक शत्रुओं पर विजय पाने के लिए भेजती तो क्या उसका पद दूसरी रमणियों से सहज ही ऊँचा न हो जाता? उस समय पति जो कुछ लाता उसमें अर्द्धांगिनी का भी कम से कम आधा भाग होता, वह लौटते हुए प्रिय का मंगलगान द्वारा स्वागत करती और जब प्रिय यह कहता कि 'साध्वि, तेरे पातिव्रत के प्रताप से मैं अपने लक्ष्य में पूर्णतः फल रहा', तब यशोधरा का जीवन धन्य हो जाता। आज उस दृश्य की कल्पना भी मन को उन्मत्त बना देने के लिए पर्याप्त है। परन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था। पति को तो खोया ही, साथ ही कलंक भी लगा। आत्मग्लानि आज यशोधरा को बाहर आकर मुँह भी नहीं दिखाने देती। वह तो त्यागी, संयमी तथा महान् था ही, संभवतः (अथवा, निश्चय ही) यशोधरे तू ही विलासान्ध है, उसका तपश्चरण तू सहन न कर पाती और यदि वह गृहत्याग की चर्चा तुझ से करता तो तू आकाश-पाताल को एक करके भी उसके सद्योग

में बाधक बन जाती । आज गुरुजन क्या कहते होंगे कि ऐसा महान् पुरुष और उसको इतनी गहिरी पत्नी ! यशोधरे, अपनी भौतिक वासनाओं पे तूने अपने पितृकुल में भी कलंक लगाया । तेरी इस नीच प्रवृत्ति से डर कर ही तो बेवारे गौतम अपने माता-पिता तथा प्रिय पुत्र से बिना मिले ही चले गये । सखि, संसार मुझको कितनी नीच, कितनी स्वार्थिनी तथा कितनी विलासान्ध समझता होगा :—

(१) सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात ।

पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात ॥

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,

कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

(२) हाय, स्वार्थिनी थी मैं ऐसी, रोक तुम्हें रख लेती ?

जहां राज्य भी त्याज्य, वहां मैं जाने तुम्हें न देती ?

(३) बिदा न लेकर स्वागत से भी वंचित यहां किया है ।

इससे तो यही अच्छा है कि मैं अपने इस कलंकित जीवन का अन्त कर लूं, कब तक संसार से मुख छिपाऊंगी और कब तक निर्लज्ज बन कर संसार की मूक गर्हणा सुनसुनकर अपने को कोसती रहूंगी । परन्तु, हाय री विडम्बना, आज मैं मर भी तो नहीं सकती, मेरे ऊपर उनके राहुल का भी भार है, मुझे उनके निर्देश में रहना होगा । आज मैं जननी हूँ, मैं रो भी नहीं सकती, पुत्र के कोमल मानस पर विषाद की छाया न पड़ने दूंगी । अपने भाग्य पर आंसू बहाकर भी मुझको राहुल के सामने प्रसन्नचित्त रहना होगा, उसका पालन-पोषण करना है और उसको उस योग्य पिता का पुत्र बनने योग्य बनाना है—उसमें भी त्याग तथा संयम के उन गुणों का विकास होना चाहिए । अस्तु, यशोधरे, आज से तेरे भाग्य में रोना तथा हंसना

इन दोनों का स्थायी निवास होगा; रोते हुए मन को भी हंसता हुआ दिखाना तेरे जीवन की सफलता है: —

(१) स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार ।

छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार ॥

(२) बनी जननी भी जाया री ।

(३) गाती है मेरे लिए, रोती उनके अर्थ ।

हम दोनों के बीच तू, पागल-सी असमर्थ ॥

यशोधरा सोचती थी कि उसके सास-ससुर जब अपनी अभागिनी वधू से पूछेंगे 'कि वधू क्या तेरा पति तुझ से कुछ कह गया है', तो उसके मुख से बोल न निकलेगा वह चुपचाप रहकर ही अपने हृदय की दशा को प्रकट कर सकेगी। परन्तु हुआ ऐसा नहीं। विह्वल राजा तथा रानी की शोकातुरता ने यशोधरा को एक उत्तरदायित्वमयी गंभीरता प्रदान की। यह दुर्भाग्य ही कहा जावेगा कि युवता विरहिणी वयोवृद्ध सास-ससुर को समझा रही है—आज तो यशोधरा शोकमग्ना होती और राजा-रानी उसका उपचार करते हांते। राजा ने कहा—'पुत्रि मैं चरों को भेज कर पुत्र की खोज कराऊंगा तू विह्वल मत हो'; यशोधरा ने प्रतिवाद किया—उनको खोजना उनके उद्देश्य में विघ्न डालना होगा, यदि हम उनको सच्चा प्रेम करते हैं तो उनकी उद्देश्य-प्राप्ति में हमको उनकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये। सास ने दृष्टे हुए हृदय से सहानुभूति दिखलाई ..बेटी, तू बड़ी अभागिनी है, वह इस कुसुमकोमल कलेवर को क्षीण बनाने के लिए तुझे छोड़ गया है। परन्तु यशोधरा ने अपनी स्थिति पर सन्तोष प्रकट किया—माता, इच्छा उनकी है वे हो छोड़ गये हैं जब चाहेंगे मुझको लीवा ले जावेंगे या किसी से बुलवा कर अपने चरणों में फिर स्थान दे देंगे, इसमें शोक की कोई बात नहीं :—

(१) सास-ससुर पूछेंगे

तो उनसे क्या अभी कहूंगी मैं ।

हा गर्विता तुम्हारी,

मौन रहूंगी, सहूंगी मैं ॥

(२) तात, सोचो, क्या गये वे इसी अर्थ हैं,

खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं ?

(३) हाय अम्ब, आप मुझे छोड़कर गये

जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा

मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे ॥

सदा यशोधरा के पास रहने वाली सखियां उसके मन के इस रहस्य को समझती हैं । वे यशोधरा के साथ सहानुभूति रखती हैं और प्रायः उसके दुर्भाग्य पर आंसू बहाया करती हैं । यशोधरा को देख कर सखी प्रायः स्वयं अश्रु बहाने लगती है तब यशोधरा की दृढ़ता और भी सचेत हो जाती है—‘सखि, उन्होंने मुझको अपनी परनी इसलिए बनाया था कि मुझमें इतनी सहनशक्ति थी, वस्तुतः यही तो योग्यता की परीक्षा का अवसर है । तुम निश्चय समझो वे अवश्य आवेंगे और यहीं आवेंगे; प्रेम का अर्थ ही विश्वास है—यदि हम प्रेम करते हैं तो हमको विश्वास भी करना होगा । सत्य तो यह है कि यह दुःख देकर वे हमको अपना आत्मीय बना गये हैं और गये हैं सच्चे सुख की खोजमें । यह अवसर तो विश्वास तथा प्रतीक्षा का है, इस परीक्षा में हम को सफल होना चाहिए :—

(१) भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना ।

इस दिन के उपयुक्त पात्र को उन्हें खोज थी सारी ॥

(२) रे मन, आज परीक्षा तेरी ।

(३) रखते हो तुम प्रीति तो धारण करो प्रतीति ।

(४) तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम ।

यहीं, इसी आंगन में ॥

परन्तु यशोधरा पत्थर न थी, वह एकान्त में तो रोती ही है, कभी कभी उस अबोध अभागे शिशु पर भी उसको कुंभलाहट आ जाती है, कितना अभागा है यह, शैशव से ही पिता के स्नेह से वंचित हो गया, यदि चलते समय वे इसकी करुण मूर्ति देख पाते तो क्या उनका हृदय न पिघलता और वे न लौटते ? :—

चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !

रोता है, अब किसके आगे ?

तुझे देख पाते वे रोता !

मुझे छोड़ जाते क्यों सोता ?

हां, यशोधरा को इस बात का विश्वास हो गया कि पुरुष-वर्ग नारी को “सिद्धि मार्ग की बाधा” समझता है, यह नारी-जाति के लिए अत्यन्त लज्जा की बात है। उसने निश्चय किया कि नारी-जाति के इस कलंक को मिटा देगी और अपने तप तथा त्याग से नारी का एक नया आदर्श उपस्थित करेगी—उसने नारी के निरपेक्ष प्रेम तथा असाधारण गांभीर्य का परिचय अपने जीवन में दे ही दिया था। अस्तु, उसने तप किया और वह तप ‘नीरव मात्र’ था इस प्रकार मुखरित तप करने वाले गौतम की अर्द्धांगिनी होने की योग्यता उसने संसार को दिखा दी। अंत में उसका तप सफल हुआ, वह प्रीति की परीक्षा में पूरी उतरी, और उसका पति लौटकर आ गया; परन्तु यशोधरा का तप अभी अधूरा है वह तो अपने पति को ‘इसी आंगन में’ उसी प्रकार देखना चाहती है जिस प्रकार वह गया था। उसका यह विश्वास भी पूरा हुआ और “माना दुर्बल ही था गौतम छिपकर गया निदान”

कहकर अपनी भूल स्वीकार करता हुआ उसका पति उसी प्रांगण में आ गया। यशोधरा अपने जीवन का सर्वस्व पागई और उसने उस भिक्षुशिरोमणि को अपनी गोद का वह अमूल्य रत्न देकर नारी के त्याग का अभूतपूर्व आदर्श उपस्थित कर दिया। फिर भी गोपा दीन बनी हुई थी, उसने उस प्रिय के लिए किया ही क्या है—नारी पुरुष के लिए कर ही क्या सकती है? परन्तु उस युगपुरुष ने उसकी महत्ता का रहस्य समझाया कि किस प्रकार उस पतिव्रता के प्रताप से अप्सराएँ भी उसको डिगा न पाई थीं; बुद्ध ने गोपा की ही नहीं समग्र नारी-जाति की महत्ता स्वीकार कर उसका मस्तक ऊँचा कर दिया :—

“दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी।,

भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से ॥”

ऊर्मिला तथा यशोधरा की परिस्थितियों में अन्तर है। उर्मिला यौवन के प्रभात में ही विरहिणी बन गई थी, इसलिये उसकी व्यथा अनन्त है, उसने जीवन में सुख देखा ही नहीं, उसकी कल्पना करती-करती ही वह उसको खो बैठी। यशोधरा ने यौवन की मादक आभा देखी थी और लूटा था उसका रमणीय सुख—यद्यपि चिरकाल तक नहीं। इसलिए यशोधरा में वेदना के साथ ही गम्भीरता तथा समझ या उत्तरदायित्व की भावना भी है। एक बालिका है दूसरी रमणी, एक अभी संसार के प्रति जिज्ञासामात्र रखती है दूसरी उसका रहस्य भी जानती है। नारी जीवन के दो रूप होते हैं जिनमें से ऊर्मिला में केवल जाया का ही रूप है, परन्तु यशोधरा किसी समय जाया मात्र ही थी अब वह जननी भी है। नारीजीवन का वह गम्भीरपक्ष जिसमें मौनरोदन, अटल प्रतीति, उत्तरदायित्वपूर्व गांभीर्य तथा निष्काम तप एवं त्याग पाया जाता है वह किशोरी उर्मिला में संभव न था, यशोधरा के चित्र में उसी कमी को पूरा करने का सफल प्रयास है।

राम-वनगमन की परिस्थितियाँ

आदिकाव्य रामायण में जिस कथा का वर्णन है उसका वास्तविक प्रसार उस समय से प्रारम्भ होता है जब महाराज दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य देते-देते वनव्राम दे देते हैं। घटना सरल ही है कि वृद्ध दशरथ तरुणी कैकेयी को दूसरी पत्नियों से अधिक प्रेम करते थे और उस तरुणी ने निष्करुण होकर उस दुर्बलता का दुरुपयोग किया। संभवतः वृद्ध दशरथ इन्द्रियामक्त होने के कारण कैकेयी को सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे और उसके दुष्ट स्वभाव को जानकर उसमें डरते भी रहते थे। इधर तरुणी कैकेयी के मन में दो प्रन्थियाँ थी— प्रथम, वह यह जानती थी कि वृद्ध ने कामुकता के कारण उस सुन्दरी से विवाह किया है (प्रतिक्रियास्वरूप दशरथ के प्रति उसके मन में न प्रेम था न सहानुभूति); द्वितीय, वह यह देखती थी कि राजा को अपने वश में रखने के कारण वह सपत्नियों की शत्रु तथा अल्पायु होने के कारण वह सपत्नियों से हीन समझा जाती है (फलतः उसको दूसरी रानियों से सदा आशंका रखती थी।) इन्हीं सूत्रों के आधार पर कवियों ने अपना कथा-पट तैयार किया है; जो जो कल्पना की गई हैं उनमें पारस्परिक विचित्रता का रहना स्वाभाविक ही है। ध्यान देने पर वैचित्र्य के निम्नलिखित पाँच प्रसंग दिखलाई पड़ते हैं :—

- (१) भरत की अनुपस्थिति।
- (२) कैकेयी की अभियेक की सूचना न होना।
- (३) मंथरा का महत्व।
- (४) वरदानों का सुझाव।
- (५) राजा का आचरण।

हिन्दी कवियों में गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य केशवदास, श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपने काव्यों

में कल्पना का जो चमत्कार यहां दिखलाया है वह उनके दृष्टिकोण विशेष का सूचक है। आदिकवि वाल्मीकि ने इस स्थल पर जो दृष्टिकोण रखा है वही सबका आधार है इसलिए सर्वप्रथम उसको जान लेना चाहिए; आदिकवि का वर्णन इस प्रकार है :—

अपनी ननिहाल जाने वाले भरत के साथ शत्रुघ्न भी प्रेम के वशीभूत हो कर चले गये। राजा अपने चारों पुत्रों को इस प्रकार प्रेम करते थे मानो वे उनकी चार भुजाएं हो; परन्तु गुणों के कारण उनको राम सर्वाधिक प्रिय थे। उस गुणवान् को युवराज बनाने का राजा ने विचार किया।... राजा ने राम को बुलाया, हित की शिक्षा दी, और फिर बतलाया कि तुम्हारे अभिषेक का वही उचित समय है जब तक कि भरत बाहर हैं—भरत का चरित्र निश्चय ही श्रेष्ठ है... , परन्तु मेरा विचार है कि मनुष्यों का चित्त अस्थिर होता है :—

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।

तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥

कामं खलु सतां वृत्ते आता ते भरतः स्थितः ।

ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।

किन्तु चित्तं मनुष्याणां मनित्यमिति मे मतिः ॥

कैकेयी की दासी मन्थरा ने विस्मय से यह समाचार सुना और पापदर्शिनी वह लेटी हुई कैकेयी के पास आकर बोली—अरी मूढ़, उठ क्या सोती है, सौभाग्य के भुलावे में मत रह... तेरा पति दुष्टात्मा राजा भरत को ननिहाल भेजकर राम को कल सबेरे इस निष्कण्टक राज्य पर स्थापित कर रहा है...। कैकेयी ने दासी को आभूषण दिये और बोली—मेरे लिए जैसा भरत वैसा राम, क्योंकि राम कौशल्या से भी अधिक मेरी सेवा करता है। मन्थरा ने गरम सांस लेकर कहा—

राम राजा होगा, और राम के अनन्तर राम का पुत्र राजा होगा, भरत सदा के लिये राज्य से अलग हो गया; अपने सौभाग्य के कारण जिस कौशल्या का तू अनादर करती रही है, क्या समय आने पर वह उसका बदला न लेगी ? कैकेयी बोली—कोई ऐसा उपाय बतला जिससे राज्य भरत को मिले, राम को किसी प्रकार न मिले । मन्थरा ने युक्ति बतलाकर उससे कहा—देवासुर युद्ध में दशरथ ने तुम्हको दो वर दिये थे उनका ध्यान दिलाकर राम को १४ वर्ष के लिये वन भेज दे और भरत को राजा बनवादे; १४ वर्ष में भरत की ऐसी जड़ जम जावेगी कि फिर वे स्थिर हो जावेंगे । अन्त में दीन होकर राजा ने कैकेयी से कहा—राम के बिना भरत भी राज्य में न रहेगा, मैं उसको राम से भी अधिक धर्मनिष्ठ समझता हूँ ।

महर्षि वाल्मीकि ने यह दिखलाया है कि दशरथ ने जानबूझ कर भरत की अनुपस्थिति में राम का अभिषेक करना चाहा, उनको भरत से कुछ आशंका थी, वे कैकेयी तथा भरत को ऐसा पात्र दिखलाते हैं जिन पर परिस्थितियों का काफी प्रभाव पड़ सकता है, दशरथ को भरत से आशंका भी है और वे यह भी जानते हैं कि राम के वन चले जाने पर भरत भी राज्य न सम्हालेगा । कैकेयी इतनी भोली है कि उसको अभिषेक का समाचार भी नहीं मालूम, वह राम और भरत में कोई अन्तर नहीं कर सकती, जब मन्थरा उसको भर देती है तो वह यह भी नहीं जानती कि वह अपना काम किस प्रकार बना सकती है । मन्थरा का वाल्मीकि ने बड़ा महत्व माना है, वह न होती तो सारी कहानी समाप्त थी, वही मानो राम की सबसे बड़ी शत्रु और कैकेयी की सबसे बड़ी हितैषिणी है—वरदान की बात का भी इसी ने स्मरण कराया है इस प्रकार आदिकवि के अनुसार कैकेयी मन्थरा के हाथ का खिलौना है, भरत भी मौलिक व्यक्तित्व नहीं रखते, और दशरथ तो कामासक्त थे ही—कैकेयी मानवी है जो यह नहीं समझती कि उसका सच्चा हित क्या है ।

गोस्वामी जी ने सारी घटना का दोष “ऊंच निवासु, नीच करतूती” वाले देवताओं को दिया है। उनके दशरथ भरत के प्रति नीतिकुशल नहीं हैं; संयोगवश ही उनको अपनी वृद्धावस्था का ध्यान आगया और वे राम के अभिषेक का निश्चय कर बैठे। भरत को भी तो बुलाया जा सकता था, क्यों न बुलाया, इसका कोई कारण नहीं मिलता और न यह बतलाया गया है कि जब कौशल्या तथा सुमित्रा अभिषेक को तैयारी कर रही थी तब कैकेयी को क्यों इस समारोह की सूचना भी न थी। मन्थरा स्वभाव से कुटिल न थी परन्तु देवताओं के आग्रह से सरस्वती ने उसको बुद्धि फेर दी। यहां दासी को उदास देखकर स्वयं रानी उसके शोक का कारण पूछती है और दासी, वाल्मिकि के ही अनुकरण पर, कैकेयी के हित की बात बतलाती है। परन्तु रानी को यह सहन न था, उसने उस “घरफोरी” दासी को फटकारा। अब दासी ने वक्रता से काम लिया :—

हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती ।

नाहि त मौन रहब दिन राती ॥

कोउ नृप होइ हमहि का हानी ।

चेरि छाँडि अब होब फि रानी ॥

मन्थरा ने रानी को समझाया कि एक षडयन्त्र चल रहा है, भरत को ननिहाल भेज दिया गया है और बड़ी चतुराई से कौशल्या उस अपमान का बदला लेने का प्रयत्न कर रही है, जो अपमान तुम राजा को अपने वश में रखने के कारण सदा करती रहती हो, पन्द्रह दिन से तैयारियां हो रही हैं तुमको कानों कान हवा तक न लगने दी; अब यदि पुत्रसमेत तुम दासता करने को तैयार हो तो राजमहल में रह सकती हो अन्यथा नहीं। कैकेयी पर प्रभाव पड़ा; उसका शरीर कंपने लगा, उसको भी अनिष्ट के लक्षण दिखलाई पड़ने लग—नित्य मेरा दाहिना नेत्र फड़कता है, रात्रि में बुरे-बुरे स्वप्न देखा करती हूँ। उसने

प्रतिज्ञा की—भले ही पितृगृह जाकर जन्म काटना पड़े पर जीते जी सपत्नी की 'सेवकाई' न करूंगी। कुबड़ी ने अपने मन्त्र की सफलता को देखा और आगे प्रयत्न किया—“सेवकाई” करें वे जो तुम्हारा अनिष्ट सोचा करते हैं; मैंने ज्योतिषियों से पूछा तो उन्होंने बतलाया कि राजा भरत ही होंगे—यह निश्चय है, हे रानी यदि तुम करो तो एक उपाय बताऊँगा।’ अपनी ही ओर से दासी ने वह उपाय बतलाया जिसका कथन महर्षि ने किया था। राजा नोतिनिपुण थे परन्तु “नारिचरित” को न समझते थे, उन्होंने प्रिया से कहा तू क्यों रूठी है जो मांगना चाहे मांगले आज तो आनन्द का अवसर है। राजा को खूब पक्का करके कैकयी ने वे दोनों वरदान मांग लिये। राजा ने इस स्थल पर शपथ पूर्वक बतलाया कि मेरे लिए राम और भरत मेरी दोनों आँखें हैं, मैं तो राजनीति के अनुसार बड़े को राज्य दे रहा था, कल ही भरत को बुला लेता हूँ उसको राज्य मिल जावेगा, परन्तु तू राम को वनवास क्यों दे रही है ?

गोस्वामी जी ने अधिकतर बातों का कारण भाग्य या संयोग को माना है—एक परोक्ष चक्र चल रहा है वही घटनाओं का नियमन करता है। उनके दशरथ नीतिज्ञ नहीं हैं, मन्थरा भी कुबुद्धि बन गई है, मन्थरा में नारीसुलभ चतुरता तथा नीचसुलभ कुबुद्धि हैं, वरदान मन्थरा ने सुझाये, और दशरथ भरत को भी राज्य दे सकते हैं, परन्तु राम को वनवास देना उसको असह्य है। दैवी सहायता लेने के कारण एक पात्र को दोषी ठहराकर शेष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक नहीं मिल सकता। केशवदास ने इस घटना को कथा के रूप में कह दिया है, उसका वर्णन नहीं किया, इसलिए उसमें सूक्ष्म कल्पना को प्रसार का तनिक भी अवसर नहीं मिला।

‘साकेत’ के रचयिता ने इन परिस्थितियों में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। इस परिवर्तन का एक मुख्य आधार मनोविज्ञान है, मन्थरा

ऐसा मन्त्र पढ़ती है जिसका प्रभाव धीरे-धीरे परन्तु बड़ा बलशाली पड़ता है। भरत की अनुपस्थिति का कारण वही है शुभ मुहूर्त्त, और प्रकरण से ऐसा जान पड़ता है कि मन्थरा का स्वभाव ही कुटिल था। कैकेयी सारे समारोहों में भाग ले रही थी उसने मन्थरा से पूछा कि तू उदास क्यों है, क्या जानती नहीं कि कल वत्स युवराज होगा। मन्थरा ने इसका उत्तर न दिया प्रत्युत बोली कि कुछ सोच तो तुमको भी है। रानी ने स्वाभाविक हँसी से कहा—मुझे इस बात का सोच है कि बेचारा भरत यह समारोह न देख सका। तब मन्थरा ने उसकी सरलता पर खेद प्रकट किया। कैकेयी ने आशंका से कहा—क्या उसी बात करती है, भरत और राम में अन्तर ही क्या है। दासी ने उत्तर में बिष उगला—भेद आज तो कुछ भी नहीं है, भेद कल दिखलाई पड़ेगा जब एक की माता राजमाता बनेगी और दूसरे की माता केवल सामान्य दर्शक। कैकेयी फिर भी प्रभावित न हुई तब दासी ने अन्तिम पाशा फेंका—एक षड्यन्त्र चल रहा है भरत को घर से बाहर निकालकर राम को राज्य दिया जा रहा है :—

भरत को करके घर से त्याज्य।

राम का देने हैं नृप राज्य।

भरत से सुत पर भी संदेह।

बुलाया तक न उन्हें जो गेह ॥

कैकेयी यह सुनकर उसपर झल्ला उठी—नीच कहीं की; तू बड़े लोगों की बातों को क्या समझे; हट जा आँखों के सामने से। कुटिल दासी ने अपराधों की क्षमा मांगी और यह कहकर चली गई कि स्वामी के सामने सेवक तो सदा अपराधी है, मैंने जो कुछ समझा था अपना कर्तव्य समझकर आपसे कह दिया, मैं फिर भी दासी ही हूँ।

गुप्तजी ने यहां एक मौलिकता का परिचय दिया है। कैकेयी बड़ी

समझदार है, वह दासी की बातों में कभी नहीं आसकती, वह दासी की बातों पर और भी बिगड़ी। परन्तु जब दासी इतनी नम्रता से लज्जा माँगकर चली गई तो कैकेयी के मन में दासी के प्रति जो उसको कुटिल समझने का विचार था वह दूर हो गया—उसकी कोई चाल नहीं है, यह अवश्य है कि उस दासी को हम लोगों की बातों में न पड़ना चाहिए फिर भी बेचारी किसी अपने स्वार्थ से तो मेरे पास न आई थी, जो कुछ उसकी समझ में आया उसने मुझे साफ-साफ बतला दिया, मेरे ही हित के लिए न ? कैकेयी अकेली बैठी परिस्थिति का विश्लेषण करने लगी—मान लिया कि कोई भी षड्यन्त्र नहीं है, मान लिया कि राम और भरत एक दूसरे के लिए अनन्य है, मान लिया कि राम सर्वगुण सम्पन्न है और वह सदा मुझको कौशल्या के समान ही मानेगा, परन्तु भरत जैसे पुत्र पर कोई संदेह ही क्यों किया गया, उसको ननिहाल से बिना बुलाये ही यह सारा समारोह क्यों किया जा रहा है ? इसीलिए न, कि भरत मेरे गर्भ में उत्पन्न है और मैं विश्वास की पात्री नहीं हूँ। कैकेयी की हीनता प्रज्वलित हो उठी, वह अधीर हो गई,—अगर हमारी आवश्यकता न थी, अगर हम इस उत्सव के उत्कापिंड थे तो माता, पुत्र दोनों को ही कैकय देश क्यों न भेज दिया ? उसके मन में प्रतिशोध की भावना जग उठी, उसने निश्चय किया कि इस आशंका का उद्गम कौशल्या से ही है, मैं उसके मन में चुभती रहती हूँ उसने सोचा कि मैं (या मेरा पुत्र) इस सदवसर पर भी विघ्न बनूंगी। कौशल्या को प्रमुदित देखकर कैकेयी और भी अंगार हो गई।

गुप्त जी ने एक और भी परिवर्तन किया मंथरा से तो युक्ति के विषय में कोई मन्त्रणा हुई न थी, कैकेयी स्वयं जलभुन कर पड़ गई और जब राजा उसको मनाने लगा तो अकस्मात् राजा के ही ध्यान

दिलाने पर उसको उन वरदानों का ध्यान आता है। 'साकेत' की विशेषता यह है कि जिस प्रकार दशरथ के मन में कोई कूटनीति न थी, उसी प्रकार कैकेयी ने भी रूठने से पहले कोई उपाय न सोचा था—सारी घटनाओं की उत्पत्ति मानसिक है, प्रकरण में ही बात में से बात बन जाती है, कैकेयी की ज्वाला बिना सोचे ही प्रतिशोध का मार्ग बना देती है। गुप्त जी ने मंथरा को भी अधिक षड्यन्त्रकारिणी नहीं बनाया ॥

इस स्वाभाविक घटना-क्रम का ठीक उलटा दृश्य हमको डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के “साकेत-संत” में दिखलाई पड़ता है। कवि ने यह कल्पना की है कि युधाजित् ने कामासक्त दशरथ के साथ सुन्दरी कैकेयी का विवाह इस आश्वासन पर किया था कि उसमें जो पुत्र उत्पन्न होगा वही राज्य का अधिकारी होगा, और मंथरा नाम की चतुर दासी भी कैकेयी के साथ इसीलिए भेजी गई थी कि जब समय हो तब वह कैकेयी को सावधान बनाकर इस शर्त को पूरा करावे। यहाँ कथानक का इस घटना से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, फिर भी दशरथ को वचन-वद्ध, मंथरा को चतुर, तथा युधाजित् को षड्यन्त्र का मूल मानने का संकेत है, संभवतः दशरथ ने प्रतिज्ञा के भय से ही भरत को ननिहाल भेजा हो और मन्थरा ने चतुराई से कैकेयी के अधिकार की रक्षा कर अपने कर्तव्य का पालन किया हो ॥

इस प्रकार हमने देखा कि रामवनगमन की जो परिस्थितियाँ हैं उन पर हमारे साहित्य में चार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करके काव्यरचना हो चुकी है। आदिकवि का दृष्टिकोण पूर्णतः घरेलू है इसलिए वह सबसे सरल तथा साथ ही अन्य कल्पनाओं का क्षेत्र भी बना हुआ है। गोस्वामी जी का दृष्टिकोण धार्मिक है वे प्रत्येक परिवर्तन का मूल कारण देवों को ही ठहराते हैं निमित्तमात्र कोई भी

बन जावे। गुप्त जी तथा मिश्र जी आधुनिक कवि हैं, इसलिए इनका दृष्टिकोण भी आधुनिक है, गुप्त जी के दृष्टिकोण को मनोवैज्ञानिक तथा मिश्र जी के को राजनीतिक कह सकते हैं—इनको परस्पर में विरोधी भी कहा जा सकता है। परन्तु यह निश्चय है कि सारी कार्यवाही में मंथरा का बहुत बड़ा हाथ है, और जब से वह हमारे सामने आती है तब से हम उसका कुटिल रूप ही देखते हैं, उसके इस आचरण का यही विश्लेषण हो सकता है कि पितृकुल से साथ आनेवाली दासी ही स्वसुरालय में अपनी निकटतम समझी जाती है परन्तु उसमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वह उदार बनकर उस गृहस्थ के सुख में सहयोग दे सके; उसकी संकुचित मनोवृत्ति सर्वदा गृह-कलह का कारण बन जाया करती है।

— — —

प्रगतिवाद

लेखनी उठाने से पहिले ही प्रगतिवादी साहित्यिक यह मानकर चलता है कि जो साहित्य अब तक लिखा गया है वह कूड़ा-करकट है और कुछ नहीं। कारण स्पष्ट है, पुरानी व्यवस्था में पूंजीपतियों का बोलबाला था या उनके सहायक पुरोहितों का, इसलिए साहित्यिकों ने भी उन्हीं के संकेतों पर नाचते हुए या तो 'बड़े आदमियों' का चित्रण किया है या 'महापुरुषों' का। परन्तु आज समय बदल गया है, अब मजदूरों और किसानों का युग है, वे ही हमारे 'हीरो' हैं, साहित्य में उनको प्रतिष्ठा होनी चाहिए, उनके अतिरिक्त दूसरों की नहीं। पुराने साहित्यशास्त्र के अध्ययन से पता लगता है कि प्रगतिवादियों का कहना बिल्कुल ठीक है, प्राचीन साहित्य में नायक-पद केवल कुछ

अनुकरणीय व्यक्तियों को ही मिल सकता था शेष को नहीं, इस पृथ्वी पर योग्य व्यक्तियों की कमी देखकर पुराने कवि नायक-पद पर स्वर्ग से देवताओं को लाकर तो नियुक्त कर सकते थे परन्तु योग्यता का मापदण्ड कुछ छोटा करके यहां वालों को उस आसन पर बैठा लाना उन कवियों को सह्य न था, महाकाव्य के नायक पद के लिए तो और भी कड़ी परीक्षाएं जाति और कुल की भी थीं। जब हम यह देखते हैं कि हमारे समाज के ६५ प्रतिशत व्यक्ति उस परीक्षा में सफल नहीं हो सकते तो हमका प्रगतिवादियों की बात ही रुचिकर लगती है कि अबतक बहुत हो चुका है इन ५ प्रतिशत शोषकों का गुणकीर्तन, अब उस समय तक शेष समाज को काव्य का विषय बनाया जाना चाहिए जबतक कि वे अल्पसंख्यक भी इन बहुसंख्यकों में न आ मिलें। हिन्दी में निराला जी का “भिन्नक”, भगवतीचरण जी वर्मा की “भैंसागाड़ी”, और प्रेमचन्द जी का “गोदान” ऐसे ही प्रयत्न हैं जिनमें नायक-पद समाज के उपेक्षित वर्ग को मिला है। यह ध्यान देने की बात है कि यह प्रगति अभी तक उग्रन्यास, कहानियों, तथा छोटी कविताओं में ही दिखलाई पड़ती है खण्डकाव्यों या महाकाव्यों में नहीं।

इतना ही पर्याप्त नहीं कि प्रगतिवादी पुराने साहित्य का जनाजा निकालकर बैठ जावे उसको यह भी समझना होगा कि राष्ट्रीय तथा प्राचीन आधार को लेकर की गई रचनाएं भी व्यर्थ हैं। यदि आप राष्ट्रीयता के गीत गाते हैं तो यह आपका पूंजीवाद है, क्योंकि राष्ट्रों का अलग-अलग संगठन संसार के शोषितों को संगठित होकर पूंजीपतियों के विरुद्ध मोर्चा लेने से रोकता है; संसार में दो ही तो वर्ग हैं शोषक और शोषित, राष्ट्रीयता तो प्रतिक्रिया है। जहां तक प्राचीनता का सम्बन्ध है, वह भूल जाने की वस्तु है, जो व्यक्ति वर्तमान से निराश होकर अतीत के गीत गाता है वह पलायनवादी है, सच्चा साहित्यिक तो वह है जो भविष्य पर आंख लगाकर क्रान्ति का

मंत्र फूंकता है। संभवतः प्रगतिवादियों के इस राष्ट्रीयता तथा प्राचीनता विरोधी मत को सभी विद्वान् स्वीकार न कर सकें, क्योंकि सभी राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया नहीं कही जा सकती और न सभी प्राचीनता पलायन ही है, प्रत्युत समर्थ साहित्यिक प्राचीन को भी नवीन दृष्टिकोण से देखकर उसको एक क्रान्तिमयी स्फूर्ति दे सकता है और उसके कुशल हाथों से राष्ट्रीयता संकुचित से उदार बन जाती है। उदाहरण के लिए प्रसाद जी के नाटकों को लीजिए, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु सभी प्राचीन इतिहास का चित्र खींचते हैं, परन्तु इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि लेखक ने जनप्रिय नेता की विजय और अत्याचारी निरंकुश शासक का नाश दिखलाकर शासन के नवीनतम सिद्धान्तों का समर्थन किया है, इतना ही नहीं “जिसके हाथों में बल नहीं उसका अधिकार ही क्या,” “राजधानी में आनन्द-विलास हो रहा है और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है, इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी,” “अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का” (स्कन्दगुप्त) आदि इस प्रकार के सैकड़ों कथनों से तो ऐसा स्पष्ट है कि लेखक के विचार कितने क्रान्तिकारी हैं, वह धर्म, समाज, राष्ट्र सभी में आमूल परिवर्तन या क्रांति का समर्थक है। अस्तु, प्राचीनता तथा राष्ट्रीयता का विरोध अधिक उचित नहीं जान पड़ता, कम से कम भारतवर्ष में, जहाँ के निवासी रूस की अच्छी चीजों की अपेक्षा भारत की बुरी चीजों से काम चलाना अधिक पसंद करते हैं, यदि प्राचीन में ही क्रान्ति दिखलाई जावे तो प्रगति अधिक सफल हो सकती है।

प्रगतिवादी का तीसरा सिद्धांत यह है कि अध्यात्म एक ठकोसला है जो शोषकों का एक सफल अस्त्र बना हुआ है, यदि हम प्रगति के समर्थक हैं तो हमको ईश्वर, आत्मा, परलोक, पाप-पुण्य, अर्थात् धर्म को डिसमिस कर देना पड़ेगा; संसार में एक ही धर्म है एकाधर्म उसी

की सदा विजय होती है, जिसके पास टका नहीं है उसका ईश्वर भी नहीं है वह जिधर टकटकी लगाता है उधर ही अन्धेरा देखता है—निपटका टकटकायते । हमको खेद है कि हम प्रगति के इस सिद्धांत से भी सहमत न हो सकेंगे । पिछले कुछ दिनों में संसार में भौतिकता का नंगा नाच देखकर पश्चिम के विचारक भी यह मानने लगे हैं कि शांति का मार्ग त्याग और सन्तोष है न कि प्राप्ति और उपभोग; कामनाओं को कोई अन्त नहीं और एक की पूर्ति दूसरे की वंचना है, मानवमात्र को भौतिक समानता नहीं प्राप्त हो सकती । यह ठीक है कि इस पृथ्वी पर धन सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है, और समाज में इतनी विषमता नहीं रहनी चाहिये जितनी कि आज है, परन्तु इमीलिए तो धर्म की सबसे अधिक आवश्यकता है, जब तक मानव अपने ऊपर नियंत्रण न स्वीकार करेगा तब तक संसार में शांति तथा सुख की कोई आशा नहीं । धर्म का वर्तमान स्वरूप अत्यन्त गर्हित है, इसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए, परन्तु नग्न भौतिकता इसका स्थान नहीं ले सकती । हां, हमको धर्म का वर्तमान रूप बदलना पड़ेगा, और इसको जनता की सम्पत्ति बनाना होगा । प्रसाद जी के शब्दों में “कामना से अन्धी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिये तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है, जिस धर्म के आचरण के लिये पुष्कल स्वर्ण चाहिये, वह धर्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं ।”

प्रगतिवाद के तीन कलाविषयक सिद्धांत भी हैं जिनमें से प्रमुख यह है कि प्रगति स्वयं एक कला है इसकी अभिव्यक्ति के लिए बाहरी कला की आवश्यकता नहीं । बात यह है कि जिस व्यक्ति का पेट नाक तक भरा हुआ है वह अपनी आराम कुर्सी पर लदा हुआ भांति-भांति

की चटनियां और मसाले चखता रहता है, परन्तु जो भूखा है वह जल्दी से जल्दी अधपकी मटर की रोटियां खाकर ही अपनी मजदूरी पर दौड़ता है। प्रश्न यह है कि रस प्रथम प्रकार के भोजन में है या दूसरे प्रकार के में। यह स्पष्ट है कि भूख तथा भोजन का अति निकट संबंध है और स्वाद उसी पर निर्भर है। यही काव्यास्वाद की कथा है। जिनके पास लूट का धन और खाली समय है वे बुद्धि के पतझड़ होकर भी पक्की कलाओं पर रीझ सकते हैं, और मीनमेख निकालकर पांचवे सवार बन सकते हैं, परन्तु इन वस्तुओं का जीवन की पोषकता से कोई सम्बंध नहीं। दरबारी साहित्य में इसीपर सिरखप्पी की जाती थी कि यह उदाहरण स्वयंदूतिका का है या अभिसारिका का, इस कविता में अंगी श्लेष है या रूपक, यह राग विहाग है या मलार, यह रूपक त्रोटक है या सटक; और आजकल की पत्रिकाओं को उठाकर देख लीजिए सुन्दर चिकना कागज, मुखपृष्ठ पर हो एक नवयुवती का आकर्षक चित्र, भीतर सिनेमा के विज्ञापन, साप्ताहिक चित्रों में दो मिलमालिकों की स्पीचें, चार नवविवाहित दम्पतियों के चित्र, एक वेदकालीन संस्कृति पर गभीर लेख, तीन दिलटूटी कविताएँ... कहावत तो यह है कि खोदा पहाड़ निकली चुड़िया, परन्तु यहां पहाड़ को पलट दीजिए फिर भी चुड़िया की पूंछ तक न मिलेगी। कारण यह है कि ये पत्रिकाएँ हमारे लिए थोड़े ही हैं ये तो उन तुन्दिल जीवधारियों के लिए हैं जिनकी कला का चरम विकास सोफा के ऊपर डबल तकिया के समान अपने बलेडर को इधर-उधर हिलाना ही है। प्रगतिवादी के इस सिद्धान्त को हम स्वीकार करते हैं कि जो कला उपयोगहीन है और जो वेश्या के समान पैसे वालों का ही मनोरंजन कर सकती है वह हेय है, हमको ऐसी कला की आवश्यकता है जो हमारी साथिन के समान हमारी मजदूरी में भी साथ रहे और सुन्दर तथा कोमल न होते हुए भी हमको प्रोत्साहित करती रहे।

मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “कैपिटल” में लिखा था कि मानव की चेतना उसके जीवन का क्रम निश्चित नहीं करती प्रत्युत सामाजिक जीवन व्यक्तिगत चेतना का निर्माण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति क्या है, कैसा है, उसके किस विषय में क्या विचार होंगे- इन प्रश्नों का उत्तर केवल एक ही प्रश्न के उत्तर पर स्थित है कि उस व्यक्ति की सामाजिक परिस्थितियाँ क्या हैं अर्थात् समाज के आर्थिक ढाँचे में उसका स्थान कहाँ पर है। मनुष्य का व्यवित्तत्व कुछ नहीं है वह तो परिस्थितियों के हाथ का खिलौना है, यदि वह पुरोहित परिवार में पला है तो अन्धविश्वासी हांगा, यदि उसका जीवन विलास और वैभव में बीता है तो वह प्रतिक्रियावादी होगा; जो निर्धन है और जिसके ऊपर अनेक व्यक्तियों का भार है वह रिश्वत लेगा ही; जिसका हाथ तंग है और जिसको कोई प्यार नहीं करता वह गुण्डा कहलाने के योग्य बन सकता है। दुर्बलताएँ होती तो सभी में है परन्तु परिस्थितियों के कारण किसी किसी में उनका स्थायी निवास हो जाता है। चरित्र-चित्रण के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य में व्यक्ति के चित्र का कोई महत्व नहीं उसमें तो उस वर्ग का चित्र होना चाहिये जिसका वह प्रतिनिधि है। कथा में नाम तथा स्थान भी होंगे परन्तु उनकी कोई आवश्यकता नहीं, व्यक्ति का अपना रूप ही नहीं, फिर नाम का ही क्या अर्थ ? जिन लोगों को साम्यवादी शासन-पद्धति का ज्ञान है वे जानते हैं कि उसमें व्यक्तिगत रुचि को समाजहित में ठुकराना पड़ता है, यही बात साहित्य में है क्योंकि यहां भी वर्गहित में व्यक्तिगत विशेषताओं का तिरस्कार कर देना पड़ता है। एक सामान्य विचार से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि चरित्रचित्रण का यह मार्ग अधिक प्रशंसनीय नहीं, क्योंकि वर्ग को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देने से मानवजीवन की व्यापकता तथा विभिन्नता दल जाती है और साहित्य एक निर्जीव आवृत्ति मात्र रह जाता है। जिस प्रकार

सभी व्यक्तियों के मुख पर वही आंख, कान, नाक आदि यथास्थान होते हैं फिर भी प्रत्येक मुख की एक व्यक्तिगत विशेषता होती है जिसके कारण हम यह कह सकते हैं कि आप सोनाराम हैं राधाकृष्ण नहीं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव समान होते हुए भी भिन्न है जिसके कारण हम एक दूसरे के व्यक्तित्व का भेद समझ सकते हैं। साहित्य में यह विभिन्नता ही आकर्षण का विषय है, इसको बचाना ही होगा अन्यथा साहित्य निर्जीव तथा स्वादहीन बन जावेगा।

जब आप अपनी कविता लिखते हैं तो आपकी दृष्टि या तो आकाश के तारों पर होती है या अन्तरिक्ष में उड़ने वाले पक्षियों पर आप यह देखने की आवश्यकता ही नहीं समझते कि पृथ्वी पर मानव जगत में क्या हो रहा है, परन्तु प्रगति इसका विरोध करती है। देश, जाति, धर्म या इसी प्रकार की वस्तुओं पर जान देकर पूंजीपतियों का उल्लू मीधा करने वाले आदर्शों के दिन बीत चुके। आज प्रत्येक का अपना जीवन ही अमूल्य है वह किसी भी बहकावे में आकर त्याग नहीं करना चाहता; अतः काल्पनिक आदर्शों का साहित्य जीवित साहित्य नहीं है, जो व्यक्ति इस प्रकार का साहित्य लिखता है वह पाठक के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। इस भांति साहित्य की प्रथम कसौटी जीवन की रक्षा हुई। दूसरी कसौटी जीवन का विस्तार है, जीवन में जितने शारीरिक तथा मानसिक मूल्य हैं उनकी पूर्ति प्रत्येक जीव को इष्ट है, जो साहित्य इस सत्य का उद्घाटन करता है वह प्रगतिशील है, जो इन का त्याग सिखलाकर धोखे में रखना चाहता है वह कृत्रिम साहित्य है। अभिप्राय यह है कि जीवन की रक्षा तथा जीवन का विस्तार जिस साहित्य का उद्देश्य है उसको प्रगतिशील कहा जावेगा, परन्तु इससे ऊपर उच्च आदर्श, आदर्श प्रेम, अनुकरणीय त्याग, प्रशंसनीय तप आदि की कथाएँ असत्य

अतएव हेय हैं। यह दिखलाना भी उचित नहीं कि धर्म, सत्य या शुभ कर्मों की विजय होती है क्योंकि संसार में तो वही सुखी रहता है जो चार लोगों की आंखों में धूलि झोंक कर अपना भांडार खचाखच भर लेता है, हमको पुरानी पाप-पुण्य की कसौटी बदलनी पड़ेगी और उसके स्थान पर यथार्थवादी कसौटी से काम लेना होगा। इसीलिए प्रगतिशील साहित्य में भुकाव लघुता की ओर होता है, वह समाज के वर्जित तथा कुत्सित चित्र को पाठकों के सामने रखकर उसी को ध्येय घोषित करता है।

इस यथार्थ का एक फल यह हुआ कि कुछ प्रगतिशील लेखक साहित्य में उस गुण को लाने लगे जिसको अश्लीलता कहते हैं। जब जीवन का विस्तार ही उद्देश्य है तो “आहार-निद्रा-भय-मैथुनम्” सभी का यथासंभव तृप्त होनी चाहिए, और जब पश्चिमी विचारकों के अनुसार सेक्स ही जीवधारियों की समग्र क्रियाओं की धुरी है तो मानव समाज का भी यही आधार है, पारस्परिक संपर्क के मूल में भी यही है, हाँ कुछ लोग इसका उदात्तीकरण (सबलीमेशन) कर लेते हैं जो एक अस्वाभाविक क्रिया है। पाठकों ने प्रगतिशील लेखक यशपाल का नाम तो सुना ही होगा, दूसरे इस श्रेणी के लेखकों के विषय में भी यही समझना चाहिए। पुरुष पुरुष है, और स्त्री स्त्री, माता-पुत्र, भाई-बहिन तक के माने हुए सम्बन्ध उदात्तीकरण मात्र हैं। हमारा विचार है कि बाह्य कला का अत्यन्त तिरस्कार कर देने से लेखकों ने मनोरंजन की आवश्यकता का अनुभव कर इस सेक्स की प्रवृत्ति को इतना अधिक अपनाया होगा, इससे कम से कम इतना जो होता है कि पाठक आदि से अन्त तक आपकी रचना को पढ़ जाता है। ध्यान देना होगा कि अश्लीलता प्रगति का स्वीकृत सिद्धान्त नहीं है और न सेक्स के आन्दोलन का ही प्रगतिवाद में कोई सम्बन्ध है, फलतः अधिक समझ-

दार प्रगतिशील साहित्यिक इम प्रवृत्ति को निन्दनीय समझकर इसके त्याग की सम्मति देते हैं, परन्तु नये साहित्यिकों का इसके बिना काम नहीं चल सकता। वस्तुतः जो जनशक्ति सुसंचालित होकर क्रान्ति में सहायक हो सकती है वह यदि सेवस जैसी तुच्छ वस्तुओं की ओर जाकर वहीं घर बनाले तो यह प्रगतिवाद का बड़ा दुर्भाग्य होगा; जो क्रान्ति का ज्ञेय बनाकर चलता है उसे बीच की इन वस्तुओं पर ध्यान भी न देना चाहिए।

प्रसंगवश प्रगतिशील कला की दो आनुषंगिक विशेषताएँ भी बतला दें। प्रथम तो यह कि प्रत्येक प्रगतिशील लेखक, लेखक पीछे होता है समालोचक पहिले, और समालोचक पीछे होता है प्रचारक उससे भी पहिले। अर्थात् प्रारंभ में व्यक्ति प्रचारक होता है, फिर उस दृष्टिकोण से साहित्य की आलोचना करता है, अन्त में (शायद आदश उपस्थित करने के लिए) उन सिद्धान्तों के अनुसार साहित्य-सृजन करता है। यह विपरीत-क्रम है, लेखकों की संख्या सर्वाधिक हो, उनमें या बाहर से कुछ आलोचक हों, जो प्रचार न करें केवल अपना मौलिक दृष्टिकोण समझावें। इस उलटे क्रम का फल यह है कि ६५ प्रतिशत जनता का साहित्य होने पर भी इसका अधिक प्रचार नहीं है और न कोई देन ही है।

दूसरी विशेषता स्थानीय है। हिन्दी का प्रगतिशील लेखक भाषा पर स्थानीय रंग बहुत देता है जिससे भाषा की व्यापकता नष्ट हो जाती है; प्रेमचन्द में यह दोष था और धीरे धीरे उन्होंने उसको दूर करने का भी यत्न किया। स्थानीयता का अन्य रूप यह है कि कदाचित् कांग्रेस के झूठे प्रचार के कारण प्रगतिवादी भी मुसलमानों के प्रांत न्याय नहीं कर पाये; उनके हिन्दू तो अपने अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं परन्तु मुसलमानों को उन वर्गों में नहीं रखा,

वस्तुतः वर्ग में तो हिन्दू-मुसलमानों का भेद है नहीं। फलतः नये प्रगतिवादी ने मुसलमानों को खुदापरस्त, सीधे, सच्चे तथा परिश्रमी चित्रित करना प्रारंभ कर दिया है, जबकि प्रेमचन्द के मुसलमान सभी चार सौ बीस हैं, एक नम्बर के ग़लामदी, मक्कार तथा बदमाश। दोनों ही दृष्टिकोण सदोष हैं, प्रेमचन्द ने केवल उच्चवर्ग के मुसलमानों को देखा था और हमारे नये भाई लोग मुसलमानों को केवल शोषित वर्ग में ही देख पाते हैं।

प्रगतिवाद में कम से कम ५ ऐसे गुण हैं जिनके कारण प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति इस सम्प्रदाय की सराहना करेगा। जिनमें सर्वप्रथम यह है कि प्रगतिवादी साहित्य का विषय जन और जीवन है, वह जन और जीवन से नीची या ऊंची भूमि में विश्वास नहीं करता, देवता होते होंगे हमको उनसे क्या करना, और स्वर्ग तथा नरक का भी अस्तित्व होता होगा परन्तु हमारे पास उनके विषय में सोचने का समय नहीं; ऐसा प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य पाठक को निष्क्रिय तथा मन्द होने से बचाता है। दूसरा गुण वास्तविकता है जिसका सम्बन्ध भी पूर्वकथित गुण से है; पुराणों तथा उसी श्रेणी के साहित्य में जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए दैवी शक्तियों की अवतरणा की जाती है; व्यक्ति पर कष्ट तथा अत्याचार देखकर भगवान् का आसन हिलने लगता है, शिव-पार्वती सहायता को चले आते हैं, कितनी सारहीन सृष्टि है जिसको सुनकर जीवनसंग्राम से थका हुआ व्यक्ति उस दिन की व्यर्थ प्रतीक्षा करता है जब भगवान् या तो स्वयं उसकी सहायता को नंगे पैर ही दौड़ते चले आवें या अपने किसी असिस्टेंट को अपनी कार में भेज दें, प्रगतिवाद ने इस प्रकार की कागजी दुनियां की जड़ ही काट दी। तीसरा गुण यह कि प्रगतिवाद उपयोगी साहित्य की रचना करता है विलासी 'कला कला के लिए'

मिद्धान्त में विश्वास नहीं करता, जैसा कि इस युग में आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि जो कला केवल निठल्ले तुन्दिलों का ही मनोरंजन करती है उसकी हत्या ही कर देनी चाहिए, जो गरीबों के खून को पीकर ही अपनी कला का प्रदर्शन कर सकता है वह कलाकार भी जनता के न्यायालय में अपराधी घोषित किया जायगा। प्रगतिवाद का चौथा गुण प्रतिक्रियावादियों को चेतावनी देता है, हमारे यहां तो ऐसा लिखा है या ऐसा होता आया है, कहनेवाले पोंगा पंडित जीवित साहित्य के प्रति न्याय नहीं कर सकते, आज जोवन में एक नवीन स्फूर्ति है, एक नया दृष्टिकोण है उसकी उपेक्षा करके कृपमंडूक बनना प्रगतिवाद सहन नहीं कर सकता; वही साहित्य जीवित है जो इस बृहद्विश्व में चारों ओर भली भाँति देखभालकर खड़ा है। और ध्यान रखिए कि नया साहित्य देवताओं की स्तुति, राजाओं की प्रशंसा, नायिकाओं के हाव-भाव तथा प्रकृति के विलासी चित्रों से ही अपना काम नहीं चला सकता, उसको अपना क्षेत्र व्यापक बनाना होगा और उपेक्षित जनता की सारी समस्याओं पर गम्भीर विचार करना होगा, यह प्रगतिवाद का पांचवा गुण है।

परन्तु हमारे प्रगतिवाद में ५ दोष भी हैं। प्रथम यह कि हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य समस्याओं पर मौलिक विचार कम करता है रूस की नकल अधिक करता है, यह सत्य है कि रूस की व्यवस्था अनुकरणीय है परन्तु उसको ज्यों का त्यों तो नहीं लादा जा सकता। दूसरा दोष यह है कि जिस प्रकार दूसरा साहित्य शोषकों का ही वर्णन करता था उसी प्रकार उसकी प्रतिक्रिया में प्रगतिवादी साहित्य केवल शोषितों का ही चित्र खींचता है, परन्तु समाज में शोषक तथा शोषित दोनों ही हैं, साहित्य में वर्ग-पक्षपात न होना चाहिए। प्रगतिवादी साहित्य में हमारे यहां अभी तक किसी भी समस्या का प्रत्यक्ष सुझाव नहीं दिया, वह यह तो बतलावेगा कि जो शोषक है उसका कत्ल करदो और उसका

धन पचा लो, परन्तु यह नहीं बतलाता कि मानवमात्र के हृदय में वह उदारता किस प्रकार उत्पन्न की जावे कि वह स्वयं ही त्याग के लिए तैयार रहे, इसी प्रकार सामाजिक समस्याओं का रचनात्मक सुझाव भी हमको नहीं मिलता, यह प्रगतिवाद की तीसरी कमी है। प्रगतिवाद की चौथी कमी वही है जिसको अश्लीलता कहा जा चुका है, मानव-हृदय की दुर्बलताओं को उत्तेजित करके सीधे-सीधे पाठक को भी चार बातें सिखला देना किसी भी साहित्य के लिए प्रशस्य नहीं है, संस्कृति का अर्थ है ऊंचा उठना, यदि आप भी शोषकों के समान इन्द्रियों के दास बन जावेंगे तो आपका कर्तव्य अधूरा ही रह जावेगा, आपको तो स्वयं ऊंचा उठना चाहिए और अपने पाठक को भी ऊंचा उठाना चाहिए। प्रगतिवाद राजनीति के बिना आगे नहीं बढ़ना चाहता, यह उसकी पांचवीं कमी है, साहित्य का उद्देश्य न तो प्रचार होना चाहिए और न उसको देशकाल के बंधन से जकड़कर लुंज-पुंज ही बना देना चाहिए।

प्रगतिवाद का भविष्य बहुत उज्ज्वल है परन्तु इसका साम्प्रदायिक रूप स्थायी नहीं बन सकता। धीरे-धीरे पुरानी व्यवस्था सड़कर गिरती जा रही है जब इसका पर्याप्त ह्रास हो जावेगा तो नवीन भवन का निर्माण होगा जिसके निवासी न किसी का अनुकरण करने के लिए साहित्य-सृजन करेंगे और न किसी से द्वेष रखने के लिए, उस समय मौलिक प्रगतिवादी साहित्य का निर्माण होगा जिसमें वर्तमान प्रगतिवाद के सभी गुण तो मिलेंगे परन्तु दोष एक भी न होगा। देखना यह है कि उस दिन के आने में अभी कितना विलम्ब है।

राष्ट्रकवि प्रसाद

किसी कवि का राष्ट्रप्रेम इस बात से नहीं जाना जा सकता कि उसने देश-प्रेम की कितनी कविताएँ लिखी हैं, या देशसेवकों का कितना गुण-गान किया है, अथवा प्रचलित राष्ट्रीय समस्याओं में कितना सहयोग दिया है; प्रत्युत हमको यह देखना पड़ेगा कि हमारे कवि की विचारधारा राष्ट्र की शाश्वत विचारधारा का कितना उद्घाटन करती है, हमारे कवि ने जीवन को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा है या वह अस्थायी आन्दोलनों में ही बह गया है, राष्ट्र के गौरव-चिन्ह—देश की प्राकृतिक स्थिति, नदी और पर्वत, ऋतु और जलवायु—राष्ट्र के उत्सव तथा त्योहार, व्यवस्था तथा प्रथाएँ कवि के हृदय को प्रभावित कर पाईं हैं या नहीं, उसने राष्ट्र के इतिहास तथा दर्शन, साहित्य एवं जीवन के प्रति श्रद्धा दिखलाई है या नहीं, संक्षेप में राष्ट्रीयता का अर्थ है राष्ट्रीय रंग (नेशनल करेक्टर) जो राष्ट्र के दृष्टिकोण विशेष का सूचक है। जिस कवि में राष्ट्रीयता का यह शाश्वत रूप दिखलाई पड़ता है वह राष्ट्रीय जीवन का एक आदर्श प्रतिनिधि बनकर पाठक के सामने आता है और अपनी प्रतिभा द्वारा राष्ट्रब्राह्म पाठकों पर भी अपने दृष्टिकोण की छाप डाल सकता है, हम उसको राष्ट्र का प्रतिनिधि या राष्ट्रकवि कहते हैं।

मेरे कथन का अभिप्राय कुछ उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। प्रत्येक राष्ट्र का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होता है जिसका सूक्ष्म रूप राष्ट्र की विचारधारा में मिलता है और स्थूल रूप राष्ट्र की प्रथाओं, उत्सवों तथा त्योहारों में। इस दृष्टिकोण का कारण राष्ट्र की प्राकृतिक स्थिति, स्थूल परिस्थितियाँ तथा आयु आदि को माना जाता है। कुछ बातें तो सामयिक तथा अस्थायी होती

हैं, परन्तु दूसरी ऐसी हैं जो शाश्वत तथा स्थायी होती हैं। जिन कवियों में इन पिछली बातों का सूक्ष्म प्रभाव मिलता है उनको हम राष्ट्रीय जीवन का व्याख्याता मान लिया करते हैं। संस्कृत में वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ऐसे ही कवि थे जिनमें दृष्टिकोण का कुछ पारस्परिक अन्तर होते हुए भी एक सामान्य परन्तु स्थायी रूप के दर्शन हमको होते हैं। हिन्दी के तुलसी और सूर भी इसी हेतु प्रतिनिधि माने जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश उत्तरकाल में आलोचकों को कोई ऐसा आधार न मिल पाया, इसलिए कुछ विद्वान् खोज करते-करते राष्ट्र की जय या किसी नेता की जय बोलनेवालों को राष्ट्रकवि कह बैठे। भूषण को लेकर यह विवाद किया जाता है कि वे राष्ट्रीय कवि थे या दरबारी, और पक्ष में यह कहा जाता है कि उन्होंने हिन्दू धर्म के रक्षक शिवाजी और छत्रसाल की प्रशंसा से ही अपनी लेखनी को पवित्र किया है, समर्थक यह मानता है कि भूषण दरबारी थे परन्तु वह पाठकों पर यह प्रभाव डालना चाहता है कि वे किसी साधारण राजा या नवाब के दरबारी न थे प्रत्युत छत्रपति शिवाजी के दरबारी थे—जूता घूरे धोबी का नहीं है स्वामी प्रेमानन्द का है इसलिए देवता पर चढ़ाया जा सकता है—यह भी कोई तर्क है ? मैं उनसे पूछता हूँ क्या भूषण ने पुण्यभूमि या उसके नदी-पर्वतों का गुणगान किया है ? क्या भूषण ने राष्ट्र के इतिहास, दर्शन या साहित्य के प्रति तन्मयता दिखलाई है ? क्या ऋतुओं, तथा कालों के चित्र मिलते हैं ? क्या सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक विचार-परम्परा में उनकी अटूट श्रद्धा कहीं पाई जाती है ? क्या पुराने ऋषियों, प्रजापतियों, देशधर्मरक्षकों, राष्ट्रकवियों आदि के लिए उनका मस्तक कहीं झुका है ? उत्तर होगा—नहीं, नहीं, नहीं ! आधुनिक युग में भी कुछ कलाकार ऐसे ही दरबारी हैं परन्तु उनको बड़ी श्रद्धा से राष्ट्रकवि कहा जाता है—राष्ट्रकवि संप्रदायों का दास नहीं होता, वह राष्ट्र का संदेशवाहक तथा प्रतीक होता है।

प्रसाद जी के साहित्य में कुछ तो ऐसा है जिसका उद्देश्य केवल आधुनिक समस्याओं पर विचार करना है, उनके कुछ उपन्यास, कहानियाँ, तथा कुछ कविता-संग्रह इसी वर्ग में आवेंगे, शेष के विषय में सभी विद्वान् यह जानते हैं कि उसका उद्देश्य आर्यजीवन की स्वर्ण-मयी भाँकी दिखाना ही है और यह भाँकी जहाँ अधिकाधिक है वहीं कवि का मन अधिक रमा है, अतः यद्यपि ऐतिहासिक नाटकों में भी तन्मयता की कमी नहीं फिर भी 'कामायनी' का मृजन कर कवि ने एक विशेष सन्तोष का अनुभव किया था, और जीवन के अन्तिम दिनों में वह 'इरावती' नामका उपन्यास लिख रहा था जिसमें स्थूल जीवन के प्रति आर्य दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न किया जा रहा था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि 'कामायनी' में सूक्ष्म जीवन की समस्याओं का भारतीय आर्योंचित सुझाव है। जो लोग, 'कामायनी' में, भारतीय दर्शन के शैव आनन्दवाद द्वारा विश्व की अशान्ति को दूर करके उसके स्थान पर आनन्द की स्थापना का महत्त्व समझते हैं, वे यह भी देखें कि 'इरावती' में प्रसाद जी ने कुछ सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्रथम सिद्धान्त यह है कि बौद्धधर्म के प्रचार से जिस शून्यवाद तथा अहिंसा का बोलबाला रहा उसने देशवासियों को बड़ा निकम्मा बना दिया वे संसार को असार समझकर इसमें भागने लगे, उनमें न आत्मविश्वास रहा न साहस, जब तक ये गुण फिर से नहीं आते तब तक आर्यजाति का पुनरुद्धार नहीं हो सकता, आर्यजाति का यही तो स्थायी गुण था, जिसको लेखक ने "आर्यभाव" कहा है:—

(१) सर्वसाधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव, और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी। (इरावती, २१)

(२) हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है , इस आर्य-भाव का प्रचार आवश्यक है । (२२).

इस कायरता का एक रूप यह है कि मनुष्य प्रत्यक्ष जीवन की समस्याओं से हारकर ईश्वर की खोज करना चाहता है, परन्तु यह आचार अनार्य है, तामसिक त्याग का कोई अर्थ नहीं पहिले प्राप्ति तदनन्तर त्याग हो तो वह त्याग सात्विक है और जिसकी प्राप्ति ही नहीं उसका त्याग ही कैसा ? प्रसाद जी ने ऐसे कायर निर्वाण की अवहेलना की है, कर्मक्षेत्र में यह निन्दनीय है, आर्य जाति कर्म की ही उपासना करती है :—

“निर्वाण यदि जीवन के लिए आवश्यक ही होगा तो उसे किसी अगले जन्म में खोज लूंगा, जब जीवन व्यर्थ सिद्ध हो जायगा ।” (६३).
(‘ही’ शब्द पर ध्यान दीजिए).

आर्यजाति की कहानी प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ में देवजाति के पतन और मानव-सृष्टि के प्रारंभ से सुनाई है, और इतिहास यह जानता है कि जब भोगविलास की मात्रा अधिक बढ़ गई तभी आर्यों का पतन प्रारंभ हो गया, जैनों ने इसके विरुद्ध तप का सिद्धान्त चलाया वह भी अति पर पहुँच गया, तब बौद्धों का मध्यम मार्ग आया, परन्तु बौद्ध धर्म ने कायरता को जन्म दिया । प्रसाद जी ने बतलाया है कि न तो भोग ही बुरा है न वैराग्य ही परन्तु उनकी मात्रा को समझे बिना उनका उपयोग घातक होता है । अपने यहां प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय समाज का स्वीकृत सिद्धान्त था, इसीलिए आश्रम-प्रथा चलती थी, महाकवि कालिदास ने आर्य जीवन में दोनों का समन्वय किया है उनके यहां “यौवने विषयैषणा” भी उतनी ही आवश्यक है जितनी “वार्धक्ये मुनिवृत्तिः” । इरावती में प्रसाद जी ने इसी सिद्धान्त पर फिर से जोर दिया है—

“भगवान् की विराट् विभूति में से हम निस्संदिग्ध वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते, उसकी मात्रा को समझ लेना ही हमारा पुरुषार्थ साधारण है।” (२२).

इस भांति स्थूल सामाजिक जीवन को आर्योचित बनाने के लिए प्रसाद जी ने तीन प्राचीन सिद्धान्तों की आवश्यकता का अनुभव किया है—आत्मवाद एवं आशावाद, कर्म, तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय। उपनिषदों में आत्मवाद का ही प्रचार है। सारी जाति इस बात का अनुभव करे कि उसमें आत्मा है और उस आत्मा को ग्रहण करने का प्रयत्न करे, जिसका उपाय “नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः” कहकर बतलाया गया है, वस्तुतः बल तथा आत्मा स्थूल जगत् में बहुत कुछ एक ही हैं, ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक का चाणक्य और ‘स्कन्दगुप्त’ नाटक का ‘भटार्क’ इसी बल या शक्ति में विश्वास करते हैं, यह बल “स्वानुभूति को जागृत” करने से प्राप्त होता है। आत्मवाद का यह सिद्धान्त भारतीय आर्य को आशावादी बना देता है, उसको अपने स्वार्थ से ऊँचा उठाकर “अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर” करने को प्रेरित करता है, देवसेना का उस जीवन में मिलने का विश्वास और चाणक्य का “श्रेय के लिए” प्रेम तक को भुला देना इसी आशावाद के उदाहरण हैं। जो जातियाँ प्रत्यक्ष जीवन से आगे नहीं देख सकतीं उनमें स्वार्थपरता अधिक पाई जाती है परन्तु हम तो अमर हैं इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में, इस शरीर से नहीं तो दूसरे शरीर से, जब सारा विश्व उसी आत्मा से व्याप्त है तो पारस्परिक भेदभाव कैसा? जो श्रेयस्कर है उसी में योग देना चाहिए न कि “क्षणिक सुखों” में:—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेरयते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थश्च उ प्रेयो वृणीते ॥

(कठोपनिषद्)

प्राचीन साहित्य में इस लोक को कर्मभूमि माना गया है, उपनिषदों में निलिप्त होकर कर्म करने के लिए दीर्घायु की कामना की गई है— वेद में जब “शरदः शतम्” तक जीवन की अभिलाषा है तो भद्र वचन सुनने के लिए, भद्र कर्म करने के लिए ही। ईशोपनिषद् में उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन है जिसको पीछे गीता में ग्रहण कर इतना महत्व दिया गया कि आजकल भी भारतीय संस्कृति का वह मूल मन्त्र बन गया है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस मन्त्र को स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती ने “क्या ईश्वर के भय से वैराग्य ग्रहण करके कर्मों को नितान्त त्याग देना चाहिये ?” के उत्तर में दिया है। गीता में कर्म का त्याग ‘ईश्वर के भय से’ नहीं है प्रत्युत मोह के कारण उत्पन्न हुआ है। प्रसाद जी का स्कन्दगुप्त भी हताश होकर कर्म से विरत होता है तब भटार्क की माता कमला उसको सचेत करती है :—

“कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो ।... उठो स्कन्द ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोनेवालों को जगाओ, और रोनेवालों को हंसाओ।”

यही प्रोत्साहन प्रसाद जी के प्रत्येक नाटक में मिलता है क्योंकि “प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं; वह तुच्छ प्राणों का मोह है”, उसका निवारण समयोचित प्रोत्साहन से ही हो सकता है; प्रसाद जी इसीलिए बौद्धधर्म के विकृता-वशेष पलायन को दूर करने का प्रयत्न करते हैं :—

(१) जीवन विश्व की संपत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दुःख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं। (ध्रुवस्वामिनी)

(२) नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्मरूप में कूद सकता हूँ । क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूँ । (अज्ञातशत्रु) ।

‘कामायनी’ में जिस समय मनु जीवन को ‘सफलता का कल्पित गंघ’ समझकर अधीर हो बैठते हैं उस समय श्रद्धा ने भी यही ‘सन्देश’ दिया था जिसकी आज भारतीय समाज को अत्यधिक आवश्यकता है :—

“दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान ।

काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान ॥

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण वह क्षणिक दीन अवसाद ॥

प्रसाद जी का तीसरा सिद्धान्त है प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का समन्वय, जिसका आधार ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र को माना जा सकता है :—

“ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

वे त्याग का उपदेश देते हैं अवश्य, परन्तु तामसिक त्याग का नहीं सात्विक त्याग का—मोह से उत्पन्न त्याग का नहीं प्रत्युत श्रेय के लिए त्याग का । यही कारण है कि उनके साहित्य में भोग के प्रति भी लालसा मिलती है विशेषतः यौवन में । जब वे जीवन को क्षणिक समझकर उसका सदुपयोग करने की सम्मति देते हैं तब तो उनको चार्वाक का साथी समझा जा सकता है । परन्तु जैसा हमने ऊपर भी कहा है, भारतीय संस्कृति भोग-योग-समन्वय में विश्वास रखती है और प्रसाद जी भी उसको ज्यों का त्यों मानते हैं :—

(१) मधुर माधव ऋतु की रजनी, रसीली सुन कोकिल की तान ।
 सुखी कर साजन को सजनी, छुबीली छोड़ हठीला मान ।
 प्रकृति की मदमाती यह चाल, देख ले दृगभर पी के संग ।
 डाल दे गलबांही का जाल, हृदय में भर ले प्रेम उमंग ॥
 (जनमेजय का नागयज्ञ)

(२) मैं इस क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ ।
 और तुम जानती हो कि मैंने ब्याह नहीं किया परन्तु भिक्षु भी न
 बन सका ।
 (“चन्द्रगुप्त” में राक्षस)

(३) पी लो छवि-रस-माधुरी, सींचो जीवन-बेल ।
 जी लो सुख से आयुभर, यह माया के खेल ।
 मिलो स्नेह से गले ।
 घने प्रेमतरु-तले ॥ (स्कन्दगुप्त)

आर्य संस्कृति का यह सिद्धान्त एक समय भोगवाद में परिणत हो गया था जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप बौद्धधर्म के दुःखवाद का जन्म हुआ । प्रसाद जी आनन्दवाद के समर्थक हैं; कामायनी का तां सार यही है, अन्यत्र भी :—

“मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है ।” (एक घूंट)

त्याग और भोग का यह समन्वय जीवन का सूचक है, कोरा त्याग कायरता है और कोरा भोग पतन का चिन्ह है, भटार्क के शब्दों में—

“जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत रात्रि में ही

विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नृपुओं की झनकार सुनते हैं।”

(स्कन्दगुप्त)

बौद्ध ने प्रत्यक्ष जीवन की इस आवश्यकता का जानबूझकर विरोध किया, फलतः उसका दृष्टिकोण एकांगी बन गया है। प्रसाद जी उसकी दया, करुणा तथा क्षमा के प्रति अटूट श्रद्धा दिखलाते हैं। फिर भी बौद्धधर्म को अपूर्ण समझते हैं उनकी सम्मति में राष्ट्र का कल्याण हितैषी ब्राह्मण ही कर सकते हैं, कायर बौद्ध नहीं। आर्य संस्कृति का जो समर्थन कालिदास में पाया जाता है, वही प्रसाद में भी; दोनों में करुणा की छाया है परन्तु दोनों ही ब्राह्मण धर्म का समर्थन करते करते शैव आनन्दवाद के श्रद्धालु सिद्ध होते हैं। परन्तु प्रसाद जी का ब्राह्मण आदर्श ब्राह्मण है जिसका प्रतिबिम्ब चाणक्य के चरित्र में मिलता है :—

(१) ब्राह्मण क्यों महान् हैं? इसीलिये कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। (स्कन्दगुप्त) .

(२) राष्ट्र का शुभ-चिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं।

(३) ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है।

(४) परन्तु बौद्धधर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिये पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-विहार में रहनेवालों के लिए उपयुक्त हो।

(चन्द्रगुप्त)

प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के इन मूल सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा अवश्य दिखलाई है, परन्तु वे परिवर्तन से तनिक भी संकोच नहीं करते, क्योंकि “परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है”। वे ब्राह्मणों के उस अतिवाद में विश्वास नहीं करते जो पीछे पाखंड तथा असत्य का कारण बन जाता है, युग की पुकार के अनुसार हमको स्थूल जीवन पर भी

पूरा ध्यान देना पड़ेगा, “इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा, पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा” । प्रसाद जी की यही मौलिकता है कि भारतीय परोक्षवाद में विश्वास करते हुए भी वे प्रत्यक्ष जीवन को भुला नहीं सकते—उसमें उचित सुधार की वे सदा सम्मति देते हैं, यहां तक कि कुछ बातें पश्चिमी सभ्यता से ले लेना भी उनका अखरता नहीं :—

(१) जीवन को सब तरह की सुविधा मिलनी चाहिए । यह मैं नहीं मानता कि मनुष्य अपने संतोष से ही सन्नाह हो जाता है और अभिलाषाओं से दरिद्र ।

(तितली) .

(२) क्यों ब्राह्मण ढुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे हैं ? क्यों एक वर्ग के लोग दूसरों की अर्थकरी वृत्तियां ग्रहण करने लगे हैं ? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया ।

(स्कन्दगुप्त) .

देशभक्ति के भी गीत प्रसाद जी ने गाये हैं, वे प्रान्तीयता की उस समस्या को समझते थे जिसके कारण देश में एकता का अभाव रहता आया है, चाणक्य का उपदेश है—“तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से संतुष्ट नहीं होता । मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा” । प्रसाद जी ने विदेशी कार्नेलिया के मुख से भारत को “मधुमय देश हमारा” कहलवाया है, क्योंकि “अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है”, इसीलिए इसको “स्वप्नों का देश” कहा गया है । इस स्थल को पढ़कर विष्णुपुराण के प्रसिद्ध “गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे” का ध्यान आ जाता है । प्रसाद जी ने इस सिद्धान्त

का विरोध किया है कि आर्य बाहर से आये थे, जो व्यक्ति ऐसा असत्य विश्वास नहीं रखता वही पुरातन इतिहास पर गर्व करके वर्त्तमान को अनुकरणीय बना सकता है :—

“किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं ।
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं ॥

×

+

+

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान ।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान ॥
जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह दर्प ।
निष्ठावर करें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥
(स्कन्दगुप्त)

अज्ञातशत्रु नाटक में भारत की प्रसिद्ध ऋतु वसंत का मनोहर वर्णन है, एक स्थल पर “जब दिनकर होता है अस्त”, और दूसरे स्थल पर जब “उषा सुनहला मद्य पिलाती” है; ऋतुराज के प्रति अन्यत्र भी अनुराग दिखलाया गया है । साथ ही निशीथ, नदी-किनारा, झंझावात आदि के भी चित्र खींचे हैं । ‘कामायनी’ में “विश्वकमल की मृदुल मधुकरी रजनी” का कितना मादक रूप दिखलाया गया है ? कहीं अग्निहोत्र हैं, कहीं यज्ञस्तूप, कहीं धेनु-वृन्द हैं कहीं तपोवन, आर्यसंस्कृति तथा आर्यजाति के गौरवचिन्ह प्रसाद जी में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं । प्रकृति के प्रति उनका वही अनुराग दिखलाई पड़ता है जो वेदों में प्रसिद्ध है । हिमालय का जो चित्र हमारे कवि ने खींचा है उससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि “विश्व का सबसे ऊँचा शृंग” कवि को कितना प्रिय है—प्रिय ही नहीं, इसके प्रति कवि के मानस में कितना सम्मान है, जिस गिरिराज का मनोहर चित्र कालिदास के “कुमारसंभव” में पाया जाता है, जो पर्वतराज असंख्य तत्त्वचिन्तकों,

ऋषियों तथा मनोषियों का आश्रय रहता चला आया है उसके प्रांत
आर्यमानस में अटूट श्रद्धा क्यों न उमड़ेगी :—

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रही,
शरद इंदिरा के मन्दिर की
मानो कोई गैल रही ॥
विश्व-कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल संतोष निदान ।
और डूबती सी अचला का
अवलंबन मणि-रत्न-निधान ।
अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर ।
उमड़ रही जिसके चरणों में
नीरवता की विमल विभूति ।
शीतल भरनों की धाराएँ
बिखरातीं जीवन अनुभूति ॥
वह अनन्त नीलिमा व्योम की
जड़ता सी जो शांत रही ।
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव में भ्रान्त रही ।
उसे दिखातीं जगती का सुख,
हंसी, और उल्लास अजान ।
मानो तुंग तरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुंदर उठान ॥”

साहित्य और उसका उद्देश्य

साहित्य की जीवनगाथा भी बड़ी मनोरंजक है, समय-समय पर जीवन के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदलता रहा है और उसी के साथ-साथ साहित्य के रूप में भी परिवर्तन आता गया है। यदि भारतीय साहित्य के प्रभात की कल्पना करें तो सर्वप्रथम अपौरुषेय रचनाओं (वेदों) के दर्शन होते हैं तदनन्तर आर्ष ग्रन्थों (उपनिषदों आदि) के, परन्तु साहित्यशास्त्री इन दोनों वर्गों की रचनाओं को अपने क्षेत्र से बाहर को वस्तु कहता है—वस्तुतः उस समय 'साहित्य' का क्षेत्र इतना संकुचित अवश्य था कि उसके अन्तर्गत केवल मानवीय रचनाओं को ही रखा जाता था। हमारे इस साहित्य का प्रारम्भ नाटकों (या रूपकों) से हुआ। नाटक कोरे मनोरंजन के साधन न थे और न थे कोरे उपदेश ही, उनकी कथावस्तु सबकी परिचित होती थी, उनके पात्र सबके जाने-पहिचाने थे, न उनमें प्राचीन इतिहास की ही भांकी थी, न उनका उद्देश्य दर्शक के मन में औत्सुक्य की वृद्धि ही था। फिर वे किस खेत की मूली थे ? निश्चय ही उनका उद्देश्य दर्शक के हृदय में उन भावों को उद्बुद्ध कर देना था जो भाव वहां पहिले से ही वर्तमान थे, आचार्यों ने यह मासा है कि सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से भावों का निवास है अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके वे जागृत होकर, उद्दीप्त होकर रसरूप में परिणत हो जाते हैं, जो रचना इस कार्य में अधिक सफल होती थी उतना ही उसका महत्त्व अधिक था। सामाजिकों के मानस में रति, उत्साह तथा शोक आदि ऐसे भाव हैं जिनकी जागृति जीवन की रक्षा तथा जीवन के विकास में सहायक होती है, भय, जुगुप्सा आदि भाव ऐसे हैं जो कदाचित् अशिव दिखलाई पड़ें परन्तु वस्तुतः ये भी अशिव न थे क्योंकि यदि क्रोध है तो अत्याचार

के विरुद्ध, यदि भय है तो अनाचार से, यदि जुगुप्सा है तो अश्लील से अग्राह्य से । इस प्रकार उस युग के सन्तुष्ट जीवन में इन भावों की जागृति सामाजिक जीवन को अधिक से अधिक सुखी तथा मधुर बनाने के लिए होती थी, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिए दार्शनिकों के से नौरस दृष्टिकोण की अपेक्षा सांसारिक मोहपूर्ण दृष्टिकोण अधिक उपयुक्त होता है ।

इस भांति यह स्पष्ट हो गया कि उस साहित्य का लक्ष्य रस-निष्पात्त भर था, उसकी सफलता या असफलता पूर्णता या अपूर्णता रस पर ही निर्भर थी । इसलिए आचार्यों ने इस सम्बन्ध में ऐसे नियम बनाये जिनसे यह कार्य अधिक सुगम हो सके, “नाट्यशास्त्र” में रंगभूमि की आकृति तक पर विचार किया गया है, कौनसा दृश्य दिखाना है कौनसा नहीं दिखाना, किस किस वस्तु का वर्णन करना है, किसको संबोधन करने में किस शब्द का प्रयोग होगा, पारस्परिक वार्त्तालाप कितने प्रकार से हो सकता है और किस समय किस प्रणाली का उपयोग होना चाहिए, कौन व्यक्ति किस भाषा को बोलेगा, तथा वेष-भूषा, आकृति, अंगसंकेत आदि पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार किया गया है, जिससे यह विदित होता है कि रस को सफलता जिन बातों पर निर्भर थी उनको कला कहा जाता था और कला की सफलता नाटक की सफलता थी । उस युग के साहित्य में न घटना-वैचित्र्य है, न अन्तर्द्वन्द्व, न विचारों में संघर्ष है, न जीवन में अशान्ति, सर्वत्र ही सन्तोष, एकरूपता तथा अचंचलता दिखलाई पड़ती है । हां, कभी-कभी साहित्यिक अपनी भावुकता को दबा न पाता था इसलिए प्रसंगवश कुछ कविताएं भी आजाया करती थीं । रसवादी साहित्य एक स्थल पर बैठकर आनन्द प्राप्त करने का साधन है इसलिए नाटकों को एक निश्चित समय में पूरा होना पड़ता था, यह संभव न था कि थोड़ा सा अंश आज देख लिया थोड़ा सा कल और शेष आठ दिन

पीछे, नाटक की कथा भी इसीलिए जीवन का थोड़ा सा ही अंश लेकर चलती थी। एक बात और, उस साहित्य की आलोचना करते समय अधिकारियों के लिए “सामाजिक” शब्द का प्रयोग है जिससे यह विदित होता है कि वह साहित्य सर्वसाधारण को वस्तु था, अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है और शास्त्र भी कि यह नवीन शास्त्र सभी लोगों के लिए सुलभ था एवं वे ही इसकी कसौटी थे।

दिन बीते और रसवादी दृश्यकाव्य के स्थान पर दरबारी श्रव्य काव्य का युग आगया। नाटक अब भी खेले जाते थे परन्तु केवल मनोरंजन के लिए, और उनमें सर्वसाधारण का प्रवेश न था, विलास की अन्य वस्तुओं के समान दृश्यकाव्य भी समाज के अधिपतियों की कुछ प्रवृत्तियों को उभारने का ही साधन था। साहित्य का अखाड़ा राजसभा बन गई, आश्रयदाता आसन पर बैठे-बैठे सुन रहे हैं और कवि महाशय तल्लीन होकर सुना रहे हैं, कोई चमत्कार की बात आई या दूर की सूझ दिखलाई पड़ी सभ्यों ने मुग्ध होकर अपना शीश हिलाया और आश्रयदाता के अधरों पर एक क्षीण किरण नाचने लगी, कवि का उद्देश्य पूरा होगया। इन परिस्थितियों में मुक्तक भी लिखे गये और प्रबन्ध काव्य भी, परन्तु दोनों का टेकनीक कुछ भिन्न थी। प्रबन्ध काव्य को सुनने के लिए धैर्य की आवश्यकता है और लिखने के लिए निर्विघ्न जीवन की, इसलिए युद्ध आदि बखेड़ों से रहित राजाओं की सभाओं में प्रबन्धकाव्य अधिक लिखे गये, यथानियम कविवर आते और अपनी कथा को आगे चलाते थे, महीनों और कदाचित् वर्षों में एक महाकाव्य पूरा होता था; आश्रयदाता का मनोविनोद भी चलता रहा और कवि भी निश्चिन्त जीवन बिताते रहे। देखना यह है कि इस श्रव्य काव्य का उद्देश्य क्या होता था। कुछ आलोचक यह मानते हैं कि रस ही काव्य की आत्मा है, कदाचित् ठीक

भी है, परन्तु 'काव्य' शब्द बड़ा क्लृप्तमेलेवाला है इसका प्रयोग भाववाचक अर्थ में भी होता है और जातिवाचक में भी, किसी कवि की समस्त रचनाओं को भी 'काव्य' कहते हैं और किसी एक रचना को भी, तथा एक छंद को भी। एक छंद में रस प्राण हो सकता है, परन्तु यह कहना कि अमुक काव्य को सुनकर श्रोता के मानस में अमुक रस की निष्पत्ति होती है, ठीक नहीं जान पड़ता, रस कोई ऐसा अंकुर नहीं जो थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिदिन उगता रहे और कुछ महीनों के उपरान्त उसमें फूल और फल लग उठें, रस की सारी सामग्री एक ही स्थल पर उपस्थित होकर उसी बैठक में श्रोता के मानस में रस-निष्पत्ति कर सकती है, यह संभव नहीं कि महाराज जिस सर्ग को आज सुन गये हैं उससे जागृत होने वाले भाव ज्यों के त्यों उसी रूप में बने रहें और यही स्थिति काव्य के समाप्त होने तक चलती रहकर रस का कारण बन जावे। यह तो माना जा सकता है कि एक सर्ग में एक ही रस अंगी होता है, परन्तु सम्पूर्ण महाकाव्य में एक ही रस को अंगी मानना अनुभव से असिद्ध है। महाकाव्य में जीवन का व्यापक चित्र होता है और जीवन में अनेक भाव और रस रहते हैं, इसलिए भी एक महाकाव्य में एक ही रस मुख्य नहीं माना जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि दरबारी श्रव्य काव्य का उद्देश्य रस न था, कम से कम उस अर्थ में जिस अर्थ में रसवादी दृश्यकाव्य में होता है। इसलिए गुण, दोष, छन्द, अलंकार को प्रथा बड़ी और कला का वह रूप दिखलाई पड़ा जो केवल बाहरी था, जो पंडित होगा वही कलाकार हो सकता है, कला का ध्येय रस न रह कर बाहरी सौन्दर्य बन गया। एक दूसरी वस्तु भी दिखलाई पड़ी, जिसे कल्पना कहते हैं, जो जितना कल्पनाधनी था उतना ही बड़ा कवि माना जाता था, आश्रयदाताओं के पास भी इतना अवकाश था ही कि कवि की सृष्टि (जो ब्रह्मा की सृष्टि से भी बढ़कर मानी जाती थी) में विचरण कर

अलौकिक आनन्द में गोते लगाते रहें। ध्यान देना होगा कि प्रस्तुत वस्तु की कल्पना का अधिकार अभी न मिला था, केवल अप्रस्तुत की रचना कवि के हाथ में थी।

मुक्तक काव्य में इस गुण का विकास हुआ, कवि कथावस्तु की भी कल्पना करने लगे और “मेघदूत” के समान सारा ही काव्य एक नवीन संसार का चित्र खींचने लगा। बाहरी सौन्दर्य का महत्त्व और भी बढ़ा और कविवर ‘वाह-वाह’ की भी आशा करने लगे। अनुमान से जान पड़ता है कि धैर्य का अभाव तथा कल्पना की अधिक इच्छा ने कवि तथा श्रोता के बीच मुक्तक को प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा अधिक प्रिय बना दिया होगा। सौन्दर्य की अधिक रुचि तां सहायक हुई ही, कवियों का एक स्थान पर जमकर न रहना भी मुक्तक काव्य की उन्नति का कारण बना—कवि को इतना धैर्य न था कि एक वर्ष तक अपनी रचना को सुनाकर अर्थ और यश प्राप्त करे, वह तो सभा में एक छन्द सुनाकर ही काम चलाना चाहता था। सभाएं भी अनेक होगई थीं और कोई भी कवियों के रहन-सहन खान-पान का स्थायी प्रबन्ध न कर सकती थी, इसलिए कवि एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे।

अब काव्य की कसौटी ‘समाजिक’ न थे प्रत्युत ‘सहृदय’ बन गये। ‘सहृदय’ की व्याख्या संभव नहीं, परन्तु जो काव्य के मर्म को समझे वही सहृदय है, अर्थात् इस वर्ग में दो दल आ सकते हैं या तो सजातीयों का या आश्रयदाताओं का—या तो उसी व्यवसाय को करनेवाले कवि ही सहृदय थे या उनको आश्रय देनेवाले समाज के अधिकारी और लक्ष्मी के स्वामी। जनता का इस साहित्य से सम्पर्क न रहा, और साहित्य मनोरंजन एवं विलास का एक अंग बन गया। यह दशा केवल प्राचीन साहित्य में ही न थी, पीछे के साहित्य में भी

मिलती है; संस्कृत के समान दूसरी भाषाओं में भी दरबारी श्रव्य काव्य लिखे गये और रीतिकाल में तो मुक्तकों का ही बोलबाला रहा ।

आज संसार बदल गया है, आज के युग की यही विशेषता है कि हमारे पास सभी प्रकार की सामग्री की इतनी प्रचुरता है कि हम यह निश्चय नहीं कर सके कि हमको क्या अपनाना चाहिये । प्रचीन-नवीन, पश्चिमी-पूर्वी, भौतिक-आध्यात्मिक, वैज्ञानिक संवेदनात्मक सभी प्रकार की सामग्री का आपस में इतना विरोधी भंडार हमारे पास इकट्ठा है कि हम स्वयं संशय में डूबे हुए हैं, पश्चिमी दार्शनिक डेकार्ट का तो यही विचार था कि संसार में संशय के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य है ही नहीं । इस संशयवृत्ति का साहित्य पर यह प्रभाव पड़ा कि पाठक केवल विचार-संघर्ष तथा विचार-समर्थन के लिए ही साहित्य को पढ़ता है, अर्थात् उपदेश या प्रचार आज के साहित्य की मुख्य विशेषता है और आलोचक केवल यही देखता है कि लेखक ने किसी स्वस्थ जीवनदर्शन का प्रतिपादन किया है या नहीं । प्रचारात्मक साहित्य लिखने के लिए हम प्रगतिवादी साहित्यिकों का दोष देते हैं परन्तु ध्यान देने पर जान पड़ता है कि इस संशय तथा संघर्ष के युग में प्रचार के अतिरिक्त दूसरा साहित्य का उद्देश्य हो ही नहीं सकता — प्रत्येक महान् साहित्यिक इसीलिए तो महान् है कि उसने पाठकों के लिए कोई महान् सन्देश छोड़ा है और उसी महान् सन्देश के प्रतिपादन के लिए साहित्य के भाण्डार को अक्षय रचनाओं से भरा है । यह सत्य है कि आजकल एक-दो साहित्यिकों (विशेषतः यूरोपीय साहित्यिकों) का मुकाब इस प्रचार से विरक्ति को ओर है इसलिए वे साहित्य में मूल्यार्जन को स्थान नहीं देते केवल यथार्थ चित्रण उपस्थित कर अपने कर्तव्य से छुट्टी पा लेते हैं, परन्तु वहां भी तल में संशय की स्थिति ही दिखलाई पड़ती है—लेखक को स्वयं इस बात का विश्वास नहीं कि क्या ग्राह्य होना

चाहिए और क्या अग्राह्य । नवीन मनोवैज्ञानिक खोज ने भी संशय की भित्ति पर खड़े होकर प्रचारहीन यथातथ्य, साहित्य को उकसाया है, पुगाने साहित्यिक चेतन जगत् का वर्णन किया करते थे, मनोवैज्ञानिकों की सम्मति मानकर नवीन लेखक चेतन की अपेक्षा अर्धचेतन या अवचेतन को अधिक सत्य मानकर उसी को साहित्य का आधार बनाने लग गये, नवीनतम मनोविज्ञान और उससे प्रभावित लेखकों का मत है कि चेतन तथा अवचेतन दोनों ही लोक अधिक मान्य नहीं, इनकी अपेक्षा अचेतन में जो भावतरंगें उठती रहती हैं उनका अधिक महत्त्व है क्योंकि उनका ही आधिक्य है अथवा उन्हीं का राज्य है, इन भावतरंगों में न कोई व्यवस्था होती है न होता है कोई इनका आधार—सीधा-साधा पाठक इस प्रकार के चित्रण को केवल प्रलाप भर समझेगा और इस प्रकार की रचना से ऊब उठेगा, अंग्रेजी में इस विचार-प्रणाली का उपन्यासों पर अधिक प्रभाव है, इसको “स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस” कहा जाता है । सौभाग्य से हिन्दी में अभी यह वस्तु नहीं आई, परन्तु कौन जानता है कि कब कोई मल्ल इस अखाड़े में भी उन्हीं दाँव-पेचों को सीखकर अपना बल अजमाने लगे । हमारा अभिप्राय केवल यह है कि संशयवृत्ति आज के साहित्य की कुंजी है, जिसके फलस्वरूप हिन्दी के वर्तमान साहित्य की अलोचना लेखक द्वारा स्वीकृत जीवन-दर्शन को ही उद्देश्य मानकर चलती है ।

हमारे इस साहित्य की दूसरी विशेषता यथार्थवाद बन गई है, जिसके दो रूप दिखलाई पड़ते हैं । प्रथम यह कि व्यक्ति परिस्थितियों का दास है, उसमें अच्छाई भी होती है और बुराई भी, परन्तु उसका समयविशेष पर क्या आचरण होगा यह उस समय की परिस्थिति पर निर्भर है । हमारा अनुमान है कि चरित्र-चित्रण की इस विशेषता का भारतीय आधार नियतिवाद है, आध्यात्मवादी भी व्यक्ति को स्वतन्त्र नहीं मानता, हां नियतिवाद की परतन्त्रता दूसरी बात पर निर्भर है

और यथार्थवाद की एक दूसरी ही बात पर । यथार्थ का दूसरा रूप घटनाओं में आता है । यह मानकर कि साहित्य का दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, हमारा लेखक नगर, मुहल्ला, सड़क, घर का नंबर आदि सबकुछ देना आवश्यक समझता है और पाठक इस सत्य को अभीष्ट समझता है । इस दोनों प्रकार के यथार्थ का यही लक्ष्य है कि साहित्य का जीवन से निकट सम्बन्ध है, जो साहित्य इस कसौटी पर जितना खरा उतरेगा उतना ही वह अच्छा समझा जावेगा ।

आज साहित्य न तो दृश्य रह गया और न श्रव्य ही, वह तो पाठ्य मात्र ही है इसलिए साहित्यकार का सामान्य नाम 'लेखक' है और गुणग्राहकों का सामान्य नाम 'पाठक' । आज लेखक और पाठक के बीच कोई सीधा सम्पर्क नहीं है, लेखक तो यह जान ही नहीं सकता कि उसके पाठक कौन-कौन है, पाठक भी प्रायः लेखक के भौतिक अस्तित्व से परिचित नहीं होता । कुछ समालोचक इस बात का आग्रह करते हैं कि लेखक का स्थूल परिचय भी पाठक के सामने आना चाहिए, इसलिए पुस्तकों में उसका चित्र, कवर पर उसका कथात्मक परिचय, तथा उसका पूरा पता आदि भी लिख दिया जाता है । हमारा विचार है कि दूर के ढोल सुहावने वाली कहावत इन लेखकों पर सबसे अधिक लागू होती है, क्योंकि ये लोग भी तो हमारे ही समान दुर्बलताओं से युक्त होते हैं, इसलिए इनका स्थूल परिचय दूर ही रखा जावे तो अच्छा है, गंभीर लेखक को भी इस सस्ती लोकप्रियता से दूर ही भागना चाहिए । लेखन एक कर्तव्य है न कि आश्रय खोजने का साधन । और न नवीन लेखकों के मन में यह भावना ही आवे कि प्राचीन साहित्यकार सहृदयों की चाटुकारी किया करते थे नवीन साहित्यकार सहृदयों से खुशामद कराकर उस पुराने ऋण का शोध कर रहे हैं ।

आज दृश्य काव्य भी लुप्त नहीं हो गया, परन्तु न जाने क्यों साहित्यिकों ने उसको जाति से बाहर निकाल दिया है, सिनेमा का प्रचार तो सभी साहित्यों से अधिक है और अच्छे अच्छे साहित्यिक भी उसे देखने जाते ही हैं, फिर उसकी इतनी उपेक्षा क्यों ? हमारी समझ में इसका केवल एक ही कारण दिखलाई पड़ता है कि सिनेमा का उद्देश्य कोरा मनोरंजन बना हुआ है वह उपदेश या प्रचार की ओर ध्यान नहीं देता, जो चित्र इस उद्देश्य में अधिक सफल है इसका उतना ही अधिक प्रचार है, दूसरे शब्दों में सिनेमा के पास कोई स्वस्थ जीवन-दर्शन नहीं है इसलिए स्वयं नियमपूर्वक देखनेवाला भी यही चाहता है कि उससे छोटे लोग इस रोग से बचें। दूसरा कारण कला-सम्बन्धी है। सिनेमा ने शब्द और अर्थ के अपूर्व समन्वय के स्थान पर संगीत, नृत्य आदि को अधिक महत्व दे दिया है, इसलिए एक गंभीर वस्तु दबकर पिछड़ती जा रही है। और विज्ञान की कृपा से सिनेमा में इतनी गति है कि इसका स्थायी साहित्य हो ही नहीं सकता। फलस्वरूप आज दृश्यकाव्य साहित्य का अंग नहीं रह गया, जो नाटक लिखे भी जाते हैं वे केवल पढ़ने भर के लिये ही अभिनय के लिए नहीं, और ज्यों ज्यों संशय, संघर्ष तथा यथार्थ का युग रहेगा नाटकों का विस्तार होगा क्योंकि इस साहित्य में पारस्परिक वार्त्तालाप के द्वारा विरोधी विचारों को उपस्थित करने की सुविधा रहती है।

दूरबारी श्रव्य काव्य के भी चिन्ह आज देखे जाते हैं; कवि-सम्मेलन इसी का उद्गाहरण है। कवि-जन प्रबन्धकाव्य तो सम्मेलनों में सुना नहीं सकते और आश्रयदाता कोई मिलता नहीं, इसलिए इकट्ठे होकर गोष्ठीयों में फुटकल कविताएं सुनाते-सुनाते नाम कमाना ही इनका लक्ष्य है, जब ३०-४० कविताएं इकट्ठी हो गईं उनको पुस्तकाकार छपवा दिया। यह स्वाभाविक है कि इन कविताओं के श्रोता सामयिक तथा हलकी चीज सुनना चाहेंगे, सामयिक इसलिए कि गोष्ठी की एक

कोई नियत नीति तो होती नहीं केवल इकट्ठे होकर मनोरंजन करना ही ध्येय होता है, हल्की इसलिए कि श्रोताओं की संख्या अपार है और उस समूह में सभी प्रकार की रुचि वाले व्यक्ति होते हैं। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इन कवियों का साहित्य में कोई स्थान नहीं हो सकता क्योंकि उनका कोई गंभीर संदेश नहीं है। दृश्य काव्य के समान श्रव्य काव्य भी अपने दिन पूरे कर रहा है, आधुनिक युग के अमर साहित्यिक प्रायः इनसे बचे हुए ही दिखलाई पड़ते हैं।

वैचित्र्य हमारे साहित्य की एक विशेषता बन गई है इसलिए उत्सुकता उत्पन्न कर देने वाली छोटी-छोटी कहानियां ही सबसे अधिक आदर प्राप्त करती हैं। इस प्रवृत्ति का कारण या तो विज्ञान है जो नवीन खोज पर ही जीता है, या वही संशयवृत्ति है जो पुराने या ज्ञात तथ्यों पर अविश्वास कर नवीनता की उपासना करती है—जो भी हो यह कहना कठिन है कि विज्ञान ने संशयवृत्ति को कितना उभारा है। वैचित्र्य का ही प्रभाव पुराने सभी सिद्धान्तों में अविश्वास है, प्रतिक्रिया रूप में नहीं प्रत्युत समय की मांग के अनुकूल; रस, अलंकार, गुण, दोष, छन्द आदि आज कितने निस्सार जान पड़ते हैं इनके आधार पर साहित्य का मूल्यांकन भी कितना हास्यास्पद जान पड़ता है।

इस भांति हमने देखा कि रसवादी दृश्य काव्य जिस परिस्थिति में फला-फूला उसमें परिवर्तन होने पर दरबारी श्रव्य काव्य का युग आया जब सुविधा के अनुसार कला और कल्पना पर जीने वाले प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य लिखे गये। आज पाठ्य काव्य का युग है जिसमें विज्ञान के संपर्क से उत्पन्न संशयवृत्ति का ऐसा शासन है कि जीवनदर्शन मात्र ही साहित्य की कसौटी बन गया है, कला और कल्पना आज ग्राह्य नहीं क्योंकि हमारा पाठक कोरे मनोरंजन के लिए साहित्य नहीं पढ़ता उसके पास उसके लिए सिनेमा जैसे अधिक सफल साधन जो हैं। एक

समय मधुर उपदेश साहित्य का प्राण था फिर मधुरता ही रह गई उपदेश दब गया, आज फिर उपदेश की पुकार है परन्तु वह उपदेश मधुर हो तो अधिक ग्राह्य बन जाता है; आज हम साहित्य में कला ही नहीं देखते उसकी उपयोगिता का भी विचार करते हैं और यही पिछली वस्तु अधिक महत्वपूर्ण है । साहित्य जनता की वस्तु है और जब तक सामान्य जनता का जीवन सुखी नहीं बन जाता तब तक कला का नाम लेना वैसा ही निर्दय है जैसा कि किसी भुखी-प्यासी युवती को अपनी वासनाओं का शिकार बनाना ।

— — —

तमिल भाषा तथा साहित्य

भारतीय भाषाओं के दो परिवार हैं—आर्य-भाषा परिवार तथा द्राविड़ भाषा परिवार। द्राविड़ परिवार की चार भाषाएँ दक्षिण भारत में प्रसिद्ध हैं—तमिल, तेलुगू, कन्नड़ तथा मलयालम। 'तमिल' शब्द का अर्थ 'मधुर' है। तमिल भाषा दक्षिण भारत की सबसे प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा है; इसका साहित्य आधुनिक भारतीय साहित्यों में सबसे पुराना है।

द्राविड़ परिवार की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इसकी वर्णमाला में ह्रस्व 'ए' तथा ह्रस्व 'ओ' दो नए स्वर होते हैं, परन्तु व्यञ्जनों में वर्ग के दूसरे (ख, छ, आदि) तथा चौथे (घ, ङ, आदि) नहीं होते। विसर्ग का द्राविड़ भाषाएँ प्रयोग नहीं करती। लिंग की दृष्टि से शब्दों के दो भेद हैं—युवक मानव तथा इतर, युवक मानवों में भी स्त्री पुरुष का भेद केवल एक वचन में ही होता है, बहुवचन में सब एक हैं; बच्चे तथा अन्य जड़ एवं चेतन जगत् के शब्दों में लिंग-भेद नहीं होता।

तमिल भाषा में ३१ अक्षर होते हैं—१२ स्वर, १८ व्यञ्जन तथा १ अर्धस्वर 'ह' या विसर्ग के समान ध्वनि 'ः'। तमिल साहित्य के ३ रूप हैं—इयाल (काव्य), ईसइ (संगीत) तथा कुट्टु (नाटक)। काव्य के अन्तर्गत काव्यशास्त्र भी आ जाता है। तमिल-साहित्य में सबसे पुराना नाम अगस्त्य ऋषि का है जो अपनी पत्नी लोपामुद्रा तथा १२ शिष्यों के साथ उत्तर से दक्षिण में गये और साहित्य का निर्माण करने लगे; वे तमिल-भाषा के स्रष्टा कहलाते हैं; संस्कृत भाषा के अनुकरण पर उन्होंने तमिल-भाषा का सम्पूर्ण व्याकरण लिखा। कुछ लोगों का विचार है कि अगस्त्य की कहानी केवल काल्पनिक कथा है, अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि अगस्त्य उन प्रचारकों के प्रतीक हैं जो आर्य-संस्कृति को फैलाने के लिए आर्यावर्त से दक्षिणापथ में गये थे। हिन्दू पुराणों में भी विंध्याचल का सिर झुकाकर दक्षिण देश को जाने वाले महर्षि अगस्त्य की रोचक कहानी अनेक स्थलों पर आई है।

तमिल-साहित्य का विकास ईसा से पूर्व हो चुका था और संगम-साहित्य की रचना आधुनिक भारतीय साहित्यों से बहुत पहिले ही हो चुकी थी। 'संगम' शब्द का अर्थ 'विद्वत्परिवद्' है, तमिल-साहित्य में ३ संगम हुए थे जिनमें सहस्रों कवि थे। अगस्त्य प्रथम संगम युग के कवि हैं। उनके एक शिष्य ने व्याकरण तथा दूसरे ने चिकित्साशास्त्र लिखा है। ये दोनों ही अपूर्व कृतियाँ हैं। व्याकरणशास्त्र का नाम 'तोलकाप्यम्' है, रचयिता 'तोलकाप्पर' थे। पुस्तक में १६१२ सूत्र हैं। इसमें व्याकरण के अतिरिक्त काव्यशास्त्र भी है। संगम युग के दूसरे प्रसिद्ध कवियों में से 'तिरुवल्लुवर' का नाम लेना अत्यन्त आवश्यक है।

कुराल के रचयिता वल्लुवर या तिरुवल्लुवर (श्री वल्लुवर) थे, कुराल इनके वास्तविक जीवन का ही शब्दचित्र है—कुराल के सम्पूर्ण उपदेश वल्लुवर के जीवन में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इनके जीवन की कहानी जनश्रुतियों तथा किवदन्तियों से इतनी आक्रान्त है कि ठोस यथार्थ का निर्णय कठिन ही है। तिरुवल्लुवर का वास्तविक नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं। 'वल्लुवर' इनकी अत्यन्त नीच जाति का नाम है। प्रारम्भ में लोग इनको नकी जाति से ही (अवहेलना के लिए) पुकारने लगे होंगे, फिर आदरसूचक शब्द 'तिरु' जोड़कर इनको 'तिरुवल्लुवर' कहा जाने लगा।

वल्लुवर का जन्म मदुरा में हुआ था। उनकी माता 'आदि' अछूत जाति की थी, परन्तु उनका पालन-पोषण एक ब्राह्मण ने किया था, और इसीलिए उनका विवाह भी 'भगवन्' नाम के ब्राह्मण के साथ हो गया। दम्पति को सात सन्तान प्राप्त हुईं और सातों ने ही तमिल भाषा में कविता की है। वल्लुवर सबसे छोटे थे। कुछ विद्वान् उनका स्थान मद्रास नगर के समीप मयिल्लापुर (मयिल = मोर, पुर = नगर) को मानते हैं। ये जाति के कोली थे और कबीर के समान गृहस्थ-जीवन बिताते हुए ही धर्मार्थ काव्य-रचना करते थे।

कुराल १३३० छोटे-छोटे (दोहे के समान) छन्दों की रचना है, जिसमें १३३ अध्याय हैं। यद्यपि 'कुराल' इस छन्द का नाम है, फिर भी वल्लुवर के

ही 'कुराल' इतने प्रसिद्ध हैं कि 'कुराल' नाम से सामान्यतः इन्हीं की रचना का बोध होता है, जिस प्रकार कि 'रामायण' कहने से हिन्दी में तुलसी की रामायण (रामचरितमानस) तथा 'सतसई' कहने से बिहारी की सतसई ही सामान्यतः समझ ली जाती है।

कुराल का एक अधिक प्रचलित नाम 'मुप्पल' भी है, जिसका शब्दार्थ है 'तीन'। भारतीय जीवन के चार पुरुषार्थों में से कुराल में प्रथम तीन का ही वर्णन है। इस प्रकार कुराल को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—प्रथम भाग में 'अरम' (धर्म), द्वितीय में 'पोरल' (अर्थ), और तृतीय भाग में 'इन्बम' (काम) सम्बन्धी कुराल हैं। धर्मखण्ड में ३८ अध्याय हैं, अर्थखण्ड में ७०, तथा कामखण्ड में २५ (योग १३३ अध्याय)। प्रत्येक अध्याय में १० कुराल हैं। ग्रन्थ की भाषा सरल तथा भाव उच्च एवं अनुकरणीय हैं। कुराल की उदारता तथा उच्चता से प्रभावित होकर ही पाठकों ने इसको 'तमिल वेद', 'पंचम वेद', 'सार्वभौमिक वेद' तथा 'दैवी ग्रन्थ' आदि नाम से पुकारा है। कुराल पर अनेक टीकाएँ हैं जिनमें सबसे अधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक कांची के प्रसिद्ध आचार्य परिमेललकर (१४वीं शती) की है।

इसी युग में शैव तिरुमुलवर ने 'थिरुमन्थिरम' लिखा जिसमें शैव सिद्धान्तों का वर्णन है। इस युग के साहित्य में धर्म के अतिरिक्त अर्थ (राजनीति, युद्ध आदि) तथा काम (प्रेम तथा प्रेम की सहायक प्रकृति एवं ऋतुएँ आदि) का भी पर्याप्त मात्रा में वर्णन है। इस साहित्य की नारी वीर माता, कोमल प्रेयसी, तथा स्वाभिमानि पत्नी के रूप में परिवार तथा राज्य दोनों के कार्यों में अप्रतिम सहायक है। संगमयुगीन साहित्य में उल्लास तथा अनुराग पर पाठक की दृष्टि अवश्य जाती है।

संगमोत्तर युग की अवधि ६०० ई० तक है। यह बौद्धों तथा जैनों का युग था, जिन्होंने जनता के समक्ष उच्च जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया। इस युग में पञ्च महाकाव्य लिखे गये जिनमें 'मणिलेखनाई' शिरोरत्न है। सर्वप्रथम 'सिलप्पदि कदम' का नाम लेना चाहिये; 'कोवलन' नाम का सेठ अपनी

पत्नी कन्नकि की उपेक्षा करके माधवी नाम की वेश्या में रत था—व्यापार में उसका सर्वस्व नष्ट हो गया, तब अनेक आपत्तियाँ सहकर वह सत्पथ पर आया। इसी माधवी की पुत्री मणिमेखला थी, जिसका वर्णन 'त्रिपटक' में भी है। मणिमेखला के मोहक प्रेम में पड़कर उदयवुमारम को लोभ हुआ, और अन्त में सब बौद्ध भिक्षु या भिक्षुणी बन गये। तीसरा महाकाव्य 'जीवक चिन्तामणि' है, इसमें जैन मत का प्रभाव है; कहा जाता है कि इस काव्य की कला कम्बन की रामायण में प्रेरक रही है। शेष दो महाकाव्य 'वल्लयपत्ति' तथा 'कुण्डलकेशी' अप्राप्य हैं। जैन कवियों ने इस युग में पञ्च खण्ड काव्य भी लिखे हैं। पञ्च महाकाव्यों में धनी सेठ तथा उनकी पुत्रियों की ही कथाएँ हैं, स्त्री-पुरुष के प्रेम को मोह मानकर कथा का अन्त वैराग्य में होता है। यह जैन-बौद्ध प्रभाव था जो गत युग के शैव प्रभाव से विपरीत है।

हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान आया और १०वीं शती तक तमिल-साहित्य को प्रभावित करता रहा। बौद्धों और जैनों से अपने धर्म को बचाने के लिए शैव नयम्भर तथा वैष्णव अलवार आगे आये और भक्ति का प्रचार करने लगे। आर्यों ने भी इनका स्वागत किया। शैव आचार्यों में चार के नाम अति प्रसिद्ध हैं—मणिक वसकर का 'तिरुवसकम' तो भक्ति-मूलक धर्म-ग्रन्थ है, परन्तु 'तिरुक्कवड्' एक शृंगार-कथा है जिसका आध्यात्मिक अर्थ ही कवि का अभिप्रेत है—साक्षात्कार, प्रेम, विवाह, वियोग तथा विरहालाप का वर्णन करके कवि ने बताया है कि विरहिणी नारी का स्वर ही विश्वात्मा से वियुक्ता जीवात्मा की पुकार है। कहा जाता है कि नारी के इस करुण स्वर में कवि की आत्माभिन्नचित् चरम उत्कर्ष पर पहुँचो है। इस युग के सेकलर ने 'पेरिय पुराण' नामक ग्रन्थ में ६२ शैव भक्तों की जीवनी लिखी है, जिसमें हिन्दी के वैष्णवों की कथा-वार्त्ता का मूल खोजा जा सकता है।

अलवार सन्त वैष्णव थे; इनकी संख्या १२ है। अन्दल नाम की भक्तिन भी इनमें एक है जिन्होंने १४३ गीत लिखे हैं। इनकी भक्ति दाम्पत्य-भाव की थी। हिन्दी की कवयित्री मीरा से इनकी तुलना की जा सकती है। अलवार सन्तों की रचनाओं का संग्रह आगे चलकर नाथमुनि ने 'नलियर-

प्रबन्धम' (४००० गीतों का प्रबन्ध) नाम से किया, यह 'प्रबन्ध' तमिल वैष्णवों में 'वेदतुल्य' पवित्र माना जाता है। 'गुरु परम्पराइ' तथा 'अलवार वैपवम' में वैष्णव सन्तों की जीवन की घटनाओं का वर्णन है। 'तिरुमल्लिसइ', 'नम्मालवार' तथा 'तिरुमंगइ' इन सन्तों के शिरोमणि हैं। पेरियालवार ने अन्दाल को एक तुलसी पादप के चरणों में पाया था, तिरुमल (देव) के प्रति उनका अनुराग बढ़ता ही चला गया, उनके गीतों में विरह की तीव्रानुभूति तथा माधुर्य की सघनता है, अन्दाल के गीत वैष्णव घरों में आज भी विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं।

तमिल साहित्य का चतुर्थ युग काव्य-कला के लिए प्रसिद्ध है; हिन्दी के समान ही भक्ति के साथ काव्य-कला की ओर जनता का सुकाव हुआ; सामाजिक विचारों तथा धार्मिक भावों के स्थान पर कल्पना का शासन आ गया—फलतः शब्द-सौन्दर्य ने अर्थाभिव्यक्ति को आच्छन्न कर दिया। इस युग में संस्कृत का अनुकरण विशेषतः दर्शनीय है। कम्बन इसी युग के महाकवि हैं, जिनमें शब्द और अर्थ का अपूर्व सामञ्जस्य है, जिनके वर्णन तथा कथन अपूर्व हैं, एवं जिनके रूपक तथा उपमा तमिल-साहित्य में सर्वोपरि हैं। कम्बन की 'रामायण' का मुख्य आधार तो वाल्मीकि की संस्कृत रामायण ही है, परन्तु 'तिरुक्कुराल', 'जीवक-चिन्तामणि', 'कन्दपुराणम्' तथा 'पेरियपुराणम्' का कम्बन पर रचना-शैली में पर्याप्त प्रभाव है। कम्बन शैव थे, फिर भी अपने आश्रयदाता सदयप्पा के आदेश से उन्होंने राम-कथा को भाषा में लिखा। इस रामायण में कैकेयी, हनुमान तथा रावण के प्रसंग दर्शनीय हैं। कैकेयी को विवाह पर यह वचन दिया गया था कि उसका पुत्र ही राज्याधिकारी होगा, मन्थरा ने उसी वचन का स्मरण ही कराया। कम्बन के वानर निरामिषभोजी शैव हैं, जो मांसाहारियों से दूसरों की रक्षा करते हैं। रामायण के भरत आदर्श पात्र हैं, जिनकी छाया राम को भी आच्छादित करती हुई जान पड़ती है। कम्बन के हाथों से वर्णित सीता, 'ताड़का तथा शूषण्खा आदि महिलाओं के प्रति पुरुष का व्यवहार निश्चय ही भद्र तथा औचित्यपूर्ण है। तुलसी में भक्ति की प्रचुरता उनको कुछ पात्रों के प्रति

न्याय नहीं करने देती, परन्तु कम्बन की दृष्टि साम्प्रदायिक न होने के कारण उद्धार है। नारी-जाति का जो आदर कृत्तिवास की बंगला रामायण में है, वह कम्बन की तमिल रामायण में आधिक्य से ही मिलेगा।

इसी युग में कम्बन के प्रतिस्पर्द्धी ओट्टक कुट्टन ने 'उत्तरकाण्ड' लिखा जो राम-कथा का उपसंहार है। पाण्डु राज्य-सभा में इस समय 'रतिनचुस्वकम्' लिखा गया जिसमें कामिनी के शरीर का वर्णन है। ६ महान् तथा ६ सामान्य सिद्ध इसी युग में हुए हैं, जिन्होंने आर्यों की वर्णाश्रम-प्रथा का विरोध करते हुए समाज को सरल तथा सहज गति से चलाने का प्रयत्न किया। जय-मकोन्दन नामक कवि का सम्बन्ध 'परणि' नाम के एक विशेष काव्य-रूप से है, जिसका नायक ऐसा योद्धा होता है जो युद्ध में एक सहस्र हाथियों का वध कर चुका हो। इस युग में टीकाओं पर दृष्टि जाती है। टीकाकारों में नच्चि-नरकिनयर सर्वोपरि हैं। तिरुक्कुराल के प्रसिद्ध टीकाकार परिमेललकर भी इनके समकालीन थे। टीका के २ रूप हैं—'कन्दिगड्' तथा 'विरुत्ति'; 'कन्दिगड्' में मूल की व्याख्या होती है, 'विरुत्ति' में आलोचना तथा तुलना को भी स्थान मिलता है।

कम्बन-युग तथा यूरोपीय प्रभाव के युग के बीच में राजसभाओं तथा मठों में कुछ कवि बिखरे मिलते हैं। उस समय अपने साहित्य तथा अपनी संस्कृति को बचाने का प्रयत्न हो रहा था—मठों का इस दिशा में प्रयत्न स्तुत्य है; तमिल धर्म तथा दर्शन का प्राचीनतम मठ 'तिरुक्कडुथुराड्' तथा प्रसिद्ध सिद्धान्त-मठ 'धर्मपुरम्' इस प्रसंग में सदा याद किये जाएंगे। लगभग १०० शैव तथा वैष्णव कवि इस परम्परा में हुए हैं। इसी समय कुछ मुसलमान कवियों ने भी तमिल-साहित्य की सेवा की; सक्करड् पुलवर, मुहम्मद इब्राहीम, मुहम्मद हुसैन, डमरु पुलवर के नाम जानने योग्य हैं; इब्राहीम ने 'मुकद्दीन पुराणम्' लिखा तथा डमरु ने 'सीरा पुराणम्' में पैगम्बर के जीवन का वर्णन किया।

१६वीं शताब्दी से तमिल-साहित्य का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है, जिसकी मुख्य विशेषता गद्य है। विदेशी विद्वानों ने भारत में आकर भारत के

साहित्य से परिचय बढ़ाया और भारतीय साहित्य का अध्ययन प्रकाशन फिर से चलने लगा। तमिल-साहित्य का इतिहास अंग्रेज़ी भाषा में लिखा गया और पश्चिमी शैली पर साहित्य के अध्ययन का सूत्रपात हुआ। अन्य भारतीय भाषाओं के समान तमिल में भी नाटक साहित्य का फिर प्रारम्भ दृष्टिगत होता है। इस युग के पुरानी परिपाटी के कवियों में एम० सुन्दरम् पिल्लई का नाम प्रसिद्ध है। इनकी ४८ रचनाओं में से १६ पुराण हैं। नवीन धारा के कवियों में टी० लक्ष्मन पिल्लई का नाम प्रसिद्ध है। कुछ आलोचक इनको 'दक्षिण-भारत का रवीन्द्र' कहते हैं।

तमिल नाटक, हिन्दी के समान ही, अधिक पुराना नहीं है; आधुनिक नाटककारों में संस्कृत तथा अंग्रेज़ी का ही अनुकरण रहा है। इस साहित्य का एक विशेष गुण विनोद-तत्त्व का समावेश है; ऐसा कोई नाटक न होगा जिसमें विदूषक जैसे पात्र पर पाठक का ध्यान न जाय। संगीत भी इन नाटकों की एक विशेषता है। तमिल में 'नाटकम' तथा 'विलासम' दोनों लिखे गये हैं। उपन्यास के क्षेत्र में तो कल्पित, ऐतिहासिक या वास्तविक प्रेम कथा का ही चिरशासन दिखाई देता है। इस रूप को अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लेखकों ने ही अपनाया।

लंका में जब तमिल जाति के लोग जाकर बसे तो वहाँ भी तमिल-साहित्य की सृष्टि होने लगी, जफना इस अभ्युदय का केन्द्र था। जफना के हिन्दू तथा ईसाई तमिल-जन नाटक में विशेष रुचि रखते हैं। जफना का तमिल-साहित्य अपने उद्गम से भिन्न न होता हुआ भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

तमिल-साहित्य की कहानी सुब्रह्मण्य भारती (१८८२ से १९२१) के बिना पूरी नहीं हो सकती। ३९ वर्षों के अलग जीवन में ही 'भारती' ने आधुनिक तमिल साहित्य को भारतीय वाङ्मय में अग्रगण्य बना दिया। उनकी कविता में देश-भक्ति तथा रहस्यवाद इतनी सरल तथा मधुर भाषा में व्यक्त हुए हैं कि प्रत्येक पाठक के मन को प्रभावित कर सकते हैं। बंगला के रवीन्द्र-

नाथ तथा हिन्दी के जयशंकर 'प्रसाद' से तमिल सुब्रह्मण्य भारती की तुलना की जा सकती है परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उत्तर भारत के इन कवियों की ज्योति जब प्रसारित हुई तब 'भारती' का अक्षय प्रकाश अपने भौतिक रूप में निर्वाण लाभ कर चुका था। इन अमर कवियों में भारत-भूमि तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अनन्त श्रद्धा है। कवि प्राचीन गौरव में तन्मय भी हो जाता है और वर्तमान ग्रामों में अपने को लीन भी कर देता है। शब्द-माधुर्य और वर्णन वैभव के साथ-साथ विचार-ज्योति से भी भारती पाठकों को विभोर कर देते हैं। एक कविता में कवि ने भारत माता का पराशक्ति के रूप में वर्णन किया है, कहीं वह स्वतन्त्रता का आह्वान करता है, कहीं अग्नि-होत्र का चित्र खींचता है। भारती ने तमिल-साहित्य को एक नया रूप दिया, भाषा को एक नई शैली प्रदान की। उनकी कविता में भावप्रवणता, विचार, वैभव, माधुर्य तथा सम्पन्नता की अपूर्व सम्पत्ति है; देश-भक्ति तथा देश-प्रेम उनको अतीत की आलोकभूमि में ले जाता है। वे वाल्मीकि तथा व्यास की परम्परा के ऋषि हैं जिनकी तुलना केवल उत्तर भारत के 'रवीन्द्र' तथा 'प्रसाद' से ही हो सकती है।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास

हिन्दी कथा-साहित्य के उद्भव से पूर्व संस्कृत, अंग्रेज़ी और फारसी का कथा-साहित्य विकास की समुचित अवस्था को प्राप्त कर चुका था इसलिये हिन्दी के कथा-साहित्य पर उक्त कथा-साहित्यों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव समय-समय पर पड़ता रहा है। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य का सूत्रपात खड़ी बोली गद्य के साथ ही होने लगता है। इंशाअल्लाख़ां की 'रानी केतकी की कहानी'; लल्लूलालजी कृत 'सिंहासनबत्तीसी', 'वैतालपच्चीसी', 'माववा-नल्ल कामकंदला', 'शकुन्तला' और 'प्रेमसागर'; सदल मिश्र का 'नासिकेतो-

पाख्यान' खड़ी बोली के पूर्व-पुरुष ही नहीं आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य के अग्रज भी हैं। तदन्तर राजा शिवप्रसाद ने 'राजा भोज का सपना' लिखा, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कुछ आप बीती, कुछ जग बीती, लिखकर आत्म-चरित शैली में कल्पनामूलक यथार्थ चित्रण का बीजारोपण किया। इसी समय बंगला, मराठी और गुजराती भाषाओं का कथा-साहित्य नवीन रूप ग्रहण कर प्रचार में आ रहा था, और हिन्दी के साहित्यिक इस प्रवृत्ति के प्रति जागरूक थे। भारतेन्दु नाटक के लिए बंगला के ऋणी हैं परन्तु कथा-क्षेत्र में उनका झुकाव मराठी की ओर जान पड़ता है, मराठी से 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक सामाजिक उपन्यास के अनुवाद का उन्होंने उपक्रम किया। परन्तु भारतेन्दु के समकालीन साहित्यिक कथा-साहित्य के लिये भी बंगला की ओर गये थे, यह तद्युगीन लेखकों पर बंगीय प्रभाव से भी स्पष्ट है और साहित्य के इस नव्य-कथा-रूप को सर्वसम्मति से 'उपन्यास' नाम मिलने से भी प्रमाणित होता है। १९वीं शताब्दी में जागृति का प्रथमोदय बंगाल में ही हुआ। गद्य का जन्म, नवीन शैली के नाटकों की रचना, और उपन्यास-शिशु की बाल-क्रीड़ा सर्वप्रथम बंगीय प्रांगण में ही दिखाई पड़ती है।

इस काल के कथा-साहित्य में मनोरंजन, रसिकता तथा समाज-सुधार तीनों ही प्रवृत्तियों का प्रत्यंकन है। मनोरंजन ने तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों को जन्म दिया, रसिकता ने विलास-प्रधान किस्सों का प्रचार किया, और समाज-सुधार ने सामाजिक-नैतिक उपन्यासों का प्रवर्तन किया; भाग्यचक्र का कौशल किसी न किसी रूप में सर्वत्र कुतूहल का आधार बना रहा। मनोरंजन-प्राण उपन्यासों पर उर्दू, फ़ारसी के किस्सों का ही अधिक प्रभाव है जबकि रसिकतापूर्ण कथानकों की परम्परा रीतिकालीन प्रभाव से प्रेरित है, और समाज-सुधार तो निश्चय ही नव-जागृति का परिणाम है। कुतूहल-परिवृष्टि के लिए इस काल के कथा-साहित्य में 'रहस्य' के समान एक ऐसा गुण है जो दैवी चमत्कार, अतिमानवीय शक्ति एवं सिद्धि-साधन आदि के द्वारा बीज रूप से सभी रचनाओं में स्वीकार किया गया है। भारतेन्दु ने अपने कहानी शब्दा-

भिषेय उपन्यास के 'प्रथम खेल' में ही ज़मीन और आसमान के बीच खिलने वाले गुलों को अपनी रचना का मूल प्रेरणा स्रोत माना है :—

ज़मीने चमन गुल खिल्लाती है क्या क्या ?

बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे ?

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार श्रद्धाराम फुलौरी का 'भाग्यवती' (संवत् १९३४) नामक 'सामाजिक उपन्यास, कालक्रम के अनुसार हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, और 'अंग्रेज़ी ढंग का मौलिक उपन्यास' सर्वप्रथम श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' (संवत् १९३६) लिखा गया। 'पहले मौलिक उपन्यास-लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, देवकीनन्दन खत्री थे। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी से तो उपन्यास की अविच्छिन्न परम्परा ही प्रारम्भ हो जाती है। कदाचित् इसीलिए डा० श्रीकृष्णलाल के मत में 'हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास' खत्री जी का 'चन्द्रकान्ता' (संवत् १९४२) ही है। 'भाग्यवती' अपने समय में बहुत प्रसिद्ध रहा था परन्तु वह पुरानी परिपाटी का था। उसमें शिक्षापरक आख्यान का चित्र देखकर ही शुक्ल जी कदाचित् उसको मौलिक कृति नहीं मानते, यद्यपि उसके सामाजिक महत्त्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह भी सम्भव है कि 'भाग्यवती' किसी रचना का छायानुवाद हो। इस उपन्यास का उद्देश्य-नारी जीवन का अंकन है परन्तु साथ ही इसके पात्र सीता, सावित्री आदि उपाख्यानों के समान पौराणिक न होकर इसी लोक की कल्पना से निर्मित हैं। 'भाग्यवती' को उपन्यास नाम मिल गया और लोकप्रियता भी प्राप्त हुई परन्तु उसमें कथावस्तु के संघटन, चरित्र-चित्रण के वैचित्र्य आदि की दृष्टि से पश्चिमी प्रभाव नहीं है। अस्तु, हम को शुक्ल जी से ही सहमत होना पड़ता है कि 'परीक्षा गुरु' ही हिन्दी का प्रथम 'अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास' है।

'परीक्षा गुरु' एक 'शिक्षाप्रद उपन्यास' है। इसका नाम, इसकी भाषा और इसकी विचारधारा गम्भीरता एवं बहुज्ञता की द्योतक है—संस्कृत, अंग्रेज़ी,

फारसी तथा हिन्दी के साहित्य, इतिहास और दर्शन से लेखक का निकट परिचय व्यक्त होता है। इसके पाठक सुशिक्षित एवं गम्भीर सामाजिक ही माने जा सकते हैं, सामान्य जनता नहीं। 'परीक्षा गुरु' विचारप्रधान उपन्यास है। इसमें घटना अत्यल्प एवं मनोरंजन-शून्य है। चरित्र-चित्रण विशेष महत्त्व का नहीं। कथोपकथन कई पृष्ठों तक चलते हैं; रहस्यमय घटना-चक्र एवं प्रेममूलक प्रसंगों की अवतारणा के बिना ही स्वकीय जीवनानुभूतिथों के आधार पर उपदेश एवं दृष्टान्तों से आप्लावित करके लेखक सजीव, सरस, कुतूहलपूर्ण उत्सुकता के बिना भी इस क्लिष्ट एवं नीरस रचना को उपादेय तथा उच्चकोटि की कृति बना देता है। लेखक के ही शब्दों में 'अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक' है और यद्यपि इसको नॉवल बताया गया है फिर भी इसका हिन्दी नाम उपन्यास नहीं है, 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलाने की एक संसारी वार्त्ता' है।

'परीक्षा गुरु' में ४१ प्रकरण हैं, परन्तु घटना केवल इतनी सी है कि मदनमोहन और ब्रजकिशोर दो मित्र थे; मदनमोहन नवशिक्षित तो है परन्तु चाटुकारों से घिरा हुआ झूठी सम्मान-भावना तथा अकर्मण्यता में डूबा रहता है, इसके विपरीत ब्रजकिशोर नवीन प्रकाश में पलकर भी स्वदेशाभिमानी, सचेत एवं व्यवहार-कुशल है। उसे लेखक का आदर्श प्रतिनिधि मानना चाहिये, उसका दृष्टिकोण व्यापक धर्म की सब प्रवृत्तियों की दृष्टि से रचा है— 'सब सै मुख्य धर्म प्रवृत्ति है परन्तु उसमें भी जब तक वृत्तियों के हक की रक्षा न की जायगी अनेक तरह के बिगाड़ होने की सम्भावना बनी रहैगी।' पण्डित पुरुषोत्तम, हकीम अहमदहुसैन, मास्टर शम्भूदयाल आदि सभी मुख्य पात्र वर्ग-प्रतिनिधि बनकर तत्कालीन भारतीय समाज का सच्चा चित्र उपस्थित करते हैं। लाला मदनमोहन सब के संरक्षक हैं, प्रत्येक पात्र अपने-अपने ढंग से आत्मीयता का दावा करता है परन्तु जब परीक्षा का अवसर आता है तब सभी आँख बचा जाते हैं, केवल ब्रजकिशोर बिना याचना के ही अपने हृदय और बुद्धि से प्रेरित होकर मदनमोहन के लिये बहुत कुछ

करते हैं। इस प्रकार ब्रजकिशोर ही गौरवान्वित सिद्ध होते हैं, जो 'परीक्षा' में 'गुरु' (गौरवपूर्ण या गौरवान्वित) सिद्ध हो सके, वस्तुतः वही महान् है, और परीक्षा है जीवन का दैनिक संघर्ष जो मनुष्य के गुणों की सब से बड़ी कसौटी है।

'परीक्षा गुरु' उपन्यास का विभाजन प्रकरणों में हुआ है। प्रत्येक प्रकरण का शीर्षक और शीर्षोद्धारण (मूल या अनुवाद) देकर लेखक ने उस प्रकरण की समस्या का उपदेश सुभाषित में संग्रहीत कर दिया है; प्रकरण की कथा मानो उस उपदेश का आख्यान है। श्रीनिवासदास की इस रचना में नवोत्थानजन्य समाज-सुधार की चेतना का प्रतिफलन है, नैतिक आदर्शों से प्रेरित इस विचार-प्रधान उपन्यास में शैली तथा प्रतिपाद्य विषय दोनों गहन हैं। प्रतिदिन सभा होती है और प्रतिदिन वे ही व्यक्ति बातचीत करते हुए अपने व्यक्तित्व का आभास देते हैं, परन्तु देश और समाज की घटनावली या समस्याएँ उसमें कथानक का अंग बनकर नहीं आईं; वैयक्तिक या सामाजिक जीवन के संघर्षों को कोई स्थान नहीं मिला। इस उपन्यास की शैली और कथावस्तु नॉवल के उपयुक्त है। श्रीनिवासदास में देश-काल के प्रति जागरूकता, मननशीलता, जीवनानुभव और विचार-गाम्भीर्य ऐसे गुण हैं जो 'परीक्षा गुरु' में प्रतिबिम्बित होकर उसको हिन्दी उपन्यास का अग्रजन्मा घोषित करते हैं।

'परीक्षा गुरु' के प्रकाशन के अनन्तर हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में एक सर्वतोमुखी बाढ़ आ गई, जिसमें साहित्यिकों की; अपेक्षा व्यवसायियों का अधिक हाथ था। आदि में काशी और मथुरा-वृन्दावन इसके केन्द्र थे, सम्भवतः इन तीर्थ-स्थानों पर बंगवासियों का सम्पर्क मध्यम वर्ग के व्यापारी-समाज को इस क्षेत्र में अधिक प्रभावित कर सका। फिर व्यापार के दूसरे केन्द्र बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, आगरा भी समय काटने के लिए अर्ध-सत्य कल्पनारुढ़ रोचक कहानियों के संरक्षक बने। काशी का लहरी बुक डिपो और वृन्दावन का सुदर्शन प्रेस उपन्यास-साहित्य के इतिहास में अमर हैं। जनता में उपन्यास-

विषयक अभिरुचि की उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर व्यवसायियों ने मासिक पत्रिकाओं के रूप में उपन्यास का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया, किशोरीलाल गोस्वामी का 'उपन्यास', जयरामदास का 'उपन्यास-बहार' और गोपालराम गहमरी का 'जासूस' इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। कई लेखक भी व्यावसायिक दृष्टि से ही उपन्यास-क्षेत्र में आये थे।

किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के तीन बड़े उपन्यासकारों में से हैं। यदि तिलिस्मी-जासूसी से भिन्न सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों की दृष्टि से देखा जाय तो वे इस युग के नेता हैं। ये ब्रज के रहने वाले और निम्बार्क सम्प्रदाय के गोस्वामी थे। इन्होंने आदि में काशी से और फिर वृन्दावन से 'उपन्यास-मासिक' पत्र निकाला, सांसारिक अनुभव, शास्त्रीय अध्ययन, तथा साहित्यिक ज्ञान इनका विशाल था। इनके उपन्यास केवल संख्या में ही सबसे अधिक नहीं प्रत्युत वस्तु की व्यापकता और साहित्यिक स्तर की दृष्टि से भी अच्छे हैं। केवल उपन्यास को इन्होंने अपने साहित्यिक-जीवन का सर्वस्व बनाया। निम्बार्क-सम्प्रदाय ने बंग भाषा और संस्कृत भाषा से तथा सम्प्रदाय की सम्पत्ति की देख-रेख ने कचहरी की भाषा फ़ारसी से इनका अच्छा परिचय करा दिया। फलतः इनके उपन्यासों में कथावस्तु पर प्रायः मुस्लिम-युगीन इतिहास का प्रभाव है और औपन्यासिक शैली में ये बंगला के ऋणी हैं। एक ओर समाज-सुधार की नई लहर और दूसरी ओर विलास के मुगलकालीन चित्र इनकी रचनाओं में सुसज्जित मिलते हैं। दूसरे उपन्यासकारों से इनका मुख्य भेद यही है कि पाश्चात्य रचनाओं का इन पर प्रभाव बहुत कम है, बंगला, संस्कृत और फ़ारसी का ही अधिकांशतः है, साथ ही इनमें तत्कालीन यथार्थ अर्थात् विलास और साम्प्रदायिक आदर्श अर्थात् शिक्षा का भी सुन्दर मिश्रण है। विलास-आप्लावित होने के कारण इनकी रचना शाही रमणियों के बिना आगे नहीं चलती। तिलिस्म और वीरता, इतिहास तथा तत्कालीन समाज, वैराग्य तथा माया के बन्धन इनकी कृतियों में साथ-साथ सटे हुए मिलते हैं। प्रायः ऐतिहासिक उपन्यास कई भागों में लिखे गये हैं, प्रत्येक भाग में अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय का शीर्षक है और शीर्षोद्धरण हैं,

फुटनोट में लेखक यह बताता चलता है कि अमुक घटना या पात्र का शेष विवरण अमुक भाग के अमुक अध्याय में मिलेगा। बीच-बीच में संस्कृत और फ़ारसी की सूक्तियाँ, हिन्दी की कविताएँ और उर्दू की गज़लें मनोहर लगती हैं। उनके कुछ उपन्यासों के नाम तारा, चपला, लखनऊ की कब्र, लवंगलता, शाही महलसरा, गुलबहार, इन्दुमती, रज़िया बेगम, माधवी माधव, कनक-कुसुम, पन्नावाई आदि हैं। उपन्यास-जगत् में ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति उस युग में कोई दूसरा नहीं मिलता। इनके उपन्यास साहित्यिक और जनता दोनों के लिए समान रूप से मनोरंजक हैं।

इस युग के दूसरे बड़े उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री हैं जिनके 'चन्द्र-कान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने भारत के अनेक नर-नारियों को हिन्दी पढ़ना सिखाया और जासूसी उपन्यासों की एक परम्परा ही चालू कर दी। वस्तुतः तिलिस्मी-जासूसी और ऐयारी के उपन्यासों को एक ही कोटि में रखना होगा। अंग्रेज़ों के शासन में हिन्दू और मुसलमान फ़ौजी कौमों अपनी जीविका खो बैठी और क्योंकि उनको किसी दूसरे पेशे का अभ्यास न था इसलिए लूट-मार उनका व्यवसाय बन गया; जो लोग कुलाभिमानी और वीरता के आदर्श को लिये हुए थे उनमें यह व्यवसाय लड़ाइयों का रूप ले बैठा। जंगलों, पहाड़ियों और बीहड़ों में छिपकर वीरता का जीवन बिताने वाले सिंह लोग जनता के मन में सम्मान की भावना जगा सकते थे। मुसलमानी राज्य के शस्त्रागार, खजाने और किले छिपकर प्रगट होने लगे। इस प्रकार जो साहित्य जनता की उस परिस्थिति को लेकर चला उसमें राजपूती वीरता, सामरिक कौतुक, असाधारण रहस्योद्घाटन और चातुर्यपुञ्ज कूट-कूट कर भरे हुए हैं। खत्री जी में लोक-रुचि को हस्तान्तरित करने की यह कला समकालीन सब साहित्यिकों से अधिक है। वीरता के साथ प्रेम का और आन का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ देने से यह उपन्यास राजपूती साहित्य के निदर्शन बन जाते हैं। भाषा में उर्दू-पन, कथोपकथनों में असाहित्यिकता, कथावस्तु में समाजबाह्य-प्रसंगों की योजना और अनेक अप्राकृतिक उपकरण इन उपन्यासों के प्राण हैं। जादू, अलौकिकता, झूल-कपट, सिद्धि तथा औषधियों या बूटियों का

चमत्कार विश्वास के योग्य नहीं, फिर भी इन उपन्यासों में मन को वशीभूत करने की पूरी शक्ति है।

खत्री जी के उपन्यास जासूसी उतने नहीं हैं जितने कि तिलिस्मी। इस क्षेत्र में गोपालराम गहमरी का नाम अधिक प्रसिद्ध है। जासूसी उपन्यास अंग्रेज़ी और बंगला से अनूदित भी हुए और मौलिक भी लिखे गये। रामप्रसाद लाल, जयरामदास गुप्त, रामजीदास वैश्य तथा दुर्गाप्रसाद खत्री ने इस ओर काफी सफलता प्राप्त की है। आगरा से इस प्रकार के छोटे उपन्यासों का बहुत प्रकाशन हुआ और लहरी प्रेस, बनारस, तो आज तक इस साहित्य के लिए प्रसिद्ध है। यह कहना कठिन है कि उच्च कोटि के जासूसी उपन्यास कहाँ तक मौलिक हैं, क्योंकि अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी जासूसी रचनाओं के इस युग में इतने अधिक अनुवाद हुए कि उनका प्रभाव किसी लेखक पर न पड़ा हो यह असम्भव लगता है, 'लन्दन रहस्य' तो मौलिक रुचि से पढ़ा जाता था। सामान्यतः किसी खून या डाके का समाचार पाकर नौकरी के कारण या रुचि की प्रेरणा से एक व्यक्ति उसका पता लगाने लगता है, उसको अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, फिर भी जान पर खेलकर वह सफलता प्राप्त कर लेता है। 'लंगड़ा खूनी', 'हम्माम का मुर्दा', 'जबर्दस्त की लाठी' 'परिमल' आदि इस वर्ग की रचनाएँ हैं।

तिलिस्मी, ऐयारी तथा जासूसी उपन्यासों के साथ-साथ उस काल में ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये। ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा हम किशोरीलाल गोस्वामी के प्रसंग में कर चुके हैं। गोस्वामी ने मुख्यतः मध्ययुगीन इतिहास से कथानक लिये और उसमें भी बंगाल, राजस्थान तथा लखनऊ को घटना का केन्द्र चुना। उन पर मुसलमानी इतिहास के विलास, वैभव तथा नृशंसता का बुरा प्रभाव था और रहस्यमयी रमणियों के द्वारा वे घटना को मनोरम बनाना जानते थे। मुसलमानी वातावरण के साथ-साथ राजपूती वीरता भी उनको अति मात्रा में प्रभावित कर सकी है। मिश्रबन्धुओं ने 'वीर मणि' और ब्रजनन्दन सहाय ने

‘लाल चीन’ नाम के सुन्दर उपन्यास इसी समय लिखे। ‘वीर मणि’ में एक आदर्श ब्राह्मण का चित्रण है, तो ‘लाल चीन’ में एक दर्दनाक घटना का वर्णन मनोविज्ञान के प्रकाश में किया गया है। ‘नल-दमयन्ती’ जैसे पौराणिक तथा ‘पतिव्रता-विपुला’ बंगाली इतिहास के उपन्यास हिन्दी-साहित्य में काफी लोकप्रिय हुए। ऐतिहासिक उपन्यासों में मूल प्रेरणा तो कथा की ही थी, परन्तु तथ्यों को कल्पना और अतिरंजना में छानकर; वर्णन करने से उनका साहित्यिक महत्त्व अधिक हो गया है। स्थान-स्थान पर लेखकों ने उन पुस्तकों का हवाला दिया है जिनकी सहायता से तथ्य संकलन में उनको सहायता मिली है। ये उपन्यास इतिहास को सूक्ष्म अर्थ में ग्रहण नहीं करते, अतः इनमें लोक-जीवन की भाँकी दुर्लभ है।

प्रेमचन्द से पूर्व सामाजिक उपन्यासों का भी अच्छा प्रचार हो गया था, जिसका मूल श्रेय आर्यसमाज को है। बंगाल में जागृति का ‘मधुरनाद’ पाश्चात्य प्रभाव से आया, इसलिए ‘मॉडेल भगिनी’ जैसे व्यंग्यात्मक उपन्यासों की रचना हुई। परन्तु हिन्दी प्रदेश में जागृति पुनरुत्थान को लेकर आयी थी, अतः इसके साथ अतीत का गौरव और पुनरुत्थान भी लिपटा चला आया, अनेक सुधारवादियों ने जनता को बदलने के लिए लोकप्रिय साहित्य उपन्यास की रचना की। रुद्रदत्त शर्मा और श्यामकिशोर वर्मा आर्यसमाजी उपन्यासकार हैं; परन्तु लज्जाराम शर्मा, अम्बिकाप्रसाद गुप्त, कार्तिकप्रसाद खत्री पर सनातनी प्रभाव है, अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी आदर्शों से प्रेरित होकर ही ‘अधखिला फूल’ और ‘ठेठ हिन्दी का ठाठ’ लिखा; जैन समाज ने हिन्दी को ‘मणिभद्र’ दिया। किशोरीलाल का ‘माधवी माधव’ स्वयं सामाजिक था, परन्तु उसमें नवीन संस्कृति के दोष या घरेलू समस्याएँ मनोविज्ञान की छाया से न आयी थीं, धार्मिक दृष्टि से ही उनका संकलन था। इसके विपरीत रुद्रदत्त शर्मा का ‘स्वर्ग में महासभा’ लज्जाराम शर्मा का ‘बिगड़े का सुधार’ श्यामकिशोर वर्मा के ‘काशी-यात्रा’ आदि में नारी की महत्ता प्रतिपादित की गई है। ‘काशी-यात्रा’ तो एक लम्बा-चौड़ा दृष्टान्त जनता को वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए। प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि मुन्शी अब्दुलगनी

ने 'सुमतिमती' नामक किताब को 'दुष्ट लोगों' द्वारा एक हिन्दू अबला के सतीत्व नष्ट करने का प्रयत्न तथा निस्सहाय अबला का पातिव्रत धर्म में डढ़ संकल्पी हो स्वधर्म-पालन आदि सत्य घटनापूर्ण उपन्यास के रूप में लिखा। प्रेमचन्द से पूर्व सामाजिक उपन्यासों में से दो रचनाएँ विशेषतः विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करती हैं, एक बाबू ब्रजनन्दन सहाय का 'राधाकान्त' और दूसरा श्री मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल'। 'राधाकान्त' में मौलिकता है और आदर्श है। राधाकान्त और हरेन्द्र दो सहपाठियों की आत्मकहानी क्रमशः प्रथम और द्वितीय खण्ड में देकर लेखक का निष्कर्ष है कि वैभव का आकर्षण दूर का है। उसके भोग में भी दुःख ही दुःख है। केवल दो ही पात्रों से पारस्परिक तुलना के द्वारा लेखक ने कथावस्तु को इतना सगठित बनाया है कि पाठक के मन पर धन की अपेक्षा चरित्र का महत्त्व बढ़ता से अंकित हो जाता है। 'रामलाल' ग्रामीण जीवन का उपन्यास है। इसमें चित्रित भोलापन, सहृदयता आदि किसानों के गुण प्रेमचन्द के उपन्यासों का पूर्वाभास देते हैं।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में कथा-साहित्य की भिन्न-भिन्न धाराएँ उपलब्ध होती हैं परन्तु कोई भी एक धारा इतनी वेगवती न थी कि छोटे-छोटे प्रभाव उसी की गति से स्पन्दित होते। मध्य युग, अरबी-फ़ारसी प्रभाव, अंग्रेजी का आकर्षण और संस्कृत का मोह अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उपन्यास-साहित्य को प्रभावित कर रहे थे; हिन्दी का मौलिक औपन्यासिक रूप नहीं बन पाया था—वे उपन्यास किसी अन्य भावना से प्रेरित होकर ही प्रायः लिखे जाते थे। इसलिए उन उपन्यासों में जीवन का वास्तविक रूप कलात्मक ढंग से पाठकों के सामने नहीं आता, उनका उद्देश्य या तो मनोरंजन है या शुद्ध शिक्षा—समाज को प्रतिबिम्बित करके सामाजिकों के मनोहरण में ये उपन्यास सफल नहीं रहे। चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता, देश-काल का प्रतिबिम्ब, शैली में उत्कर्ष और उद्देश्य की व्यापकता इन उपन्यासों में नहीं मिलती। फिर भी साहित्य के इतिहास में इनका एक स्वकीय महत्त्व है। तत्कालीन जनजीवन का जो सुन्दर चित्र इसमें मिलता है वह कदापि यह नहीं; सामाजिकों की अभिरुचि, उनके आचार, विचार, उनकी कल्पना और उनकी वास्त-

विकता इस साहित्य में प्रतिफलित हुई है। सांस्कृतिक सन्धि युग के जीवन आदर्श अल्प प्रयत्न से उत्कीर्ण नहीं हो पाते, इसलिए तद्युगीन साहित्य में चित्रों की अस्थिरता और सघनता ही दर्शनीय है, यद्यपि साहित्य का अपना मौलिक रूप उनमें स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी-उपन्यास की अपार निधि इसी दृष्टि से साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है।

गोदान के कथोपकथन

किसी भी काव्य या कथा की सफलता इस बात में है कि वह पाठक को उत्तरोत्तर अधिक आनन्द प्रदान कर सके। जो साहित्य हमको एक से अधिक इन्द्रिय द्वारा प्रभावित करता है वह उतना ही अधिक मनोनुकूल है। इसलिए श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य अधिक रमणीय माना गया है। आज जब शिक्षित लोग भी एक रुपये की पुस्तक मोल न लेकर दो रुपये आठ आने खर्च करके सिनेमा देखने जाते हैं तो मानो इसी बात का समर्थन करते हैं कि दर्शन का आनन्द सजीव है और श्रवण का निर्जीव। अतः उपन्यास या कहानी की अपेक्षा नाटक निश्चय ही अधिक मनोहर है; और नाटक का प्राण कथोपकथन है; तब कथोपकथन की समुचित योजना उपन्यास के आकर्षण में निश्चय ही वृद्धि करेगी। प्रेमचन्द के कथोपकथनों से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है।

कथोपकथन के चार अंग हैं—वक्ता, प्रतिवक्ता, वातावरण और विषय। यदि केवल वक्ता को दृष्टि में रखें तो प्रतिवक्ता-भेद, वातावरण-भेद और विषय-भेद से उसकी भाषा, भाव-मुद्रा और भावाभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी। होरी जब धनिया से बात करता है और रायसाहब से बात करता है तब एक ही व्यक्ति नहीं है। इसी प्रकार धनिया से बात करते हुए भी ग्राम-वासियों के सम्मुख, थानेदार के समक्ष और एकान्त में होरी का व्यक्तित्व अलग-अलग है। कुनिया के विषय में बात करने वाला होरी दूसरा है और भोला के विषय में बात करता हुआ दूसरा। वक्ता-भेद से वर्णन, कथोपकथन तथा शैली में जो स्वभाव के कारण विशेषता आती है वह तो सर्व-विदित है ही।

प्रेमचन्द के कथोपकथन यथार्थ एवं स्वाभाविक हैं, सजीव एवं आकर्षक हैं। ग्रामीण-जीवन का लेखक को इतना अधिक परिचय था कि वह उसके अंकन में अपूर्व सफल रहा है और ग्रामीणों के कथोपकथन उसके उपन्यास के प्राण बन गये हैं। स्वाभाविकता का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि वार्तालाप का आरम्भ करने से पूर्व लेखक वातावरण का कल्पनोर्वर आभास दे देता है, फिर वह वक्ता-प्रतिवक्ता की बाहरी दशा चित्रित करता है, उनकी वाणी के स्वर को स्पष्ट करता है और अन्त में शब्द-भागडार, वाक्यों की बनावट आदि के द्वारा उनके भावों को चित्रित करता है। समस्त अंकन से पाठक के सामने न केवल बाहरी दृश्य ही आ जाता है अपितु आन्तरिक भाव और विचार भी अपना पूर्वाभास दे देते हैं।

वातावरण का चित्र प्रेमचन्द के हाथ से बड़ा खरा उतरा है, उससे वक्ता और प्रतिवक्ता के स्वभाव, भाव एवं विचार स्पष्ट अंकित हो जाते हैं। रायसाहब राजा आदमी थे और होरी एक शूद्र किसान। जब वह उनकी कोठी पर उनसे मिलने गया तो वे स्वयं एक रमणीय वृक्ष के नीचे कुर्सी पर बैठ गये और होरी को पृथ्वी पर बैठने का संकेत किया। यदि कोई दूसरा आदमी होता और अगर होरी को कुर्सी न देता तो स्वयं भी न बैठता और अगर बैठना पड़ता तो मन में संकुचित होता; परन्तु रायसाहब “वहीं एक घने वृक्ष की छाया में कुर्सी पर बैठ गये और होरी को ज़मीन पर बैठने का इशारा करके बोले।” उनका स्वाभिमान, नवाबी और बड़ापन एक-एक काम से झलकते हैं। इसी प्रकार जब घर में गाय आ गई तो सारा गाँव उसे देखने आया परन्तु दाता-दीन के आने में एक विशेषता है और वह यह कि वे वृद्ध हैं, ग्राम में प्रतिष्ठित हैं, उनको जाति का अभिमान है और आयु तथा धन का भी :—

“मत्तर साल के बूढ़े दातादीन लठिया टेकते हुए आये और अपने पोपले मुख से बोले।” जब गोबर कर्तव्य समझकर भुनिया के हाथ से कलसा लेना चाहता है तो वह उसको नहीं देती, वह कूप तक आयेगा और वह उसे यौवन की बात कह सकेगी :—

“भुनिया ने कलसा न दिया, कुएँ के जगत पर जाकर मुस्कराती हुई

बोली—“तुम हमारे मेहमान हो, कहोगे एक लोटा पानी भी किसी ने न दिया ।”

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

“होरी ने फटी हुई मिरजई को बड़ी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा ।”

“गोबर ने अँगोछा कमर में बाँध लिया और समर के लिए तैयार होकर बोला ।”

अब वक्ता के शारीरिक चिह्न देखिये । शारीरिक विकार और विशेष रूप से मुख के भाव मन की बातें कह दिया करते हैं । प्रेमचन्द ने सर्वत्र इनका सूक्ष्म चित्रण किया है:—

- (१) होरी ने माथे को सिकोड़कर कहा (चिन्ता) ।
- (२) गप्पा ने अँगुली मटकाकर कहा (चिढ़ाना) ।
- (३) भुनिया हँसकर तिरछी नज़रों से देखती हुई बोली (कामुकता) ।
- (४) धनिया ने लम्बी साँस लेकर कहा (शोक) ।
- (५) अपना सिर पीटकर बोली (विवशता) ।
- (६) धनिया ने ज़मीन पर थूककर कहा (लज्जित करना) ।
- (७) दातादीन ने लम्बी दाढ़ी फटकारकर कहा (अधिकार) ।
- (८) अलादीन बीड़ी जलाता हुआ बोला (लापरवाही) ।

ध्यान देना होगा कि ये शारीरिक विकार शक्तियों की अपेक्षा अशक्तियों और पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में अधिक स्पष्ट लक्षित होते हैं । अब वाणी के स्वर पर ध्यान दीजिए । स्वर तथा शारीरिक विकारों का प्रदर्शन प्रायः साथ-साथ हुआ करता है । प्रेमचन्द ने स्वर का उल्लेख सर्वत्र कर दिया है:—

- (१) भिगुरीसिंह ने मुस्कराकर कहा ।
- (२) होरी ने काँपते स्वर में कहा ।
- (३) दारोगा जी ने कठोर स्वर में कहा ।
- (४) दातादीन ने पैने स्वर में कहा ।
- (५) हरखू ने हेकड़ी के साथ जवाब दिया ।

यह तो तय है कि स्वर-संकेत की अपेक्षा शारीरिक विकारों का निर्देश अधिक सूक्ष्मता का द्योतक है। यह बताना सरल है कि उस व्यक्ति ने विवशता के साथ उत्तर दिया परन्तु विवशता के द्योतक आकृति-चिह्नों का दिखाना कठिन है—

कथोपकथनों की भाषा, शब्दावली, वाक्य-विन्यास आदि व्यक्तियों के अनुसार हैं। दो किसानों की बातचीत में भाषा भिन्न होगी, दो स्त्रियों की में भिन्न। केवल भाषा-भेद से ही कथोपकथनों की स्वाभाविकता का अनुमान लगाया जा सकता है। सर्वप्रथम नगर के शिक्षित व्यक्तियों की बातचीत में विदेशी शब्दों की भरमार देखिये :—

“एक क्षण के बाद उसने पूछा—‘क्या इस खेल में हाफ्ट-टायम नहीं होता?’”

खन्ना को शरारत सूझी, बोले—“आप चले थे मिर्ज़ा से मुकाबला करने; समझे थे यह भी फ़िलासफ़ी है।”

× × × ×

“मैं गँवारों के खेल नहीं खेलता। मेरे लिये टेनिस है।”

“टेनिस में मैं तुम्हें सैकड़ों गेम दे चुकी हूँ।”

दूसरी ओर मातादीन और सिलिया की बातचीत में जो आत्मीयता है वह भारतीय गृहस्थ-जीवन का दिव्य चित्र उपस्थित करती है :—

“तुम तो उसे खेला भी न पाये।”

“नहीं, सिलिया, एक दिन खेलाया था।”

“सच ?”

“सच।”

“मैं कहाँ थी ?”

“तू बाज़ार गई थी।”

“तुम्हारी गोद में रोया नहीं ?”

“नहीं, सिलिया, हँसता था।”

“सच ?”

“सच ।”

सिलिया को इस बात का दुःख था कि ग्राम-भर का लाञ्छन सहने के बाद भी मातादीन अपने पुत्र को प्रेम न कर पाया, जब उसे मातादीन से पुत्र-प्रेम की बात ज्ञात हुई तो उसे आकस्मिक हर्ष हुआ, यह बड़े आनन्द का विषय है कि पुत्र ने अपने पिता को पहचान लिया—वह उसकी गोद में रोया नहीं, ‘हँसता था’ । ‘सच’ का उत्तर ‘सच’ कितना मार्मिक और हृदयस्पर्शी है ।

प्रेमचन्द के कथोपकथनों में सजीवता के लिए जिन प्रसंगों की योजना हुई है वे कथा-प्रधान न होकर कथोपकथन-मूलक हैं । कहीं दाम्पत्य-विनोद है, कहीं ननद-भौजाई का परिहास है, तो कहीं नेताओं की दुर्दशा । ऐसे प्रसंग उपन्यास को अधिक सरस और आह्वान बना देते हैं । गृहस्थ-जीवन में विनोद ही तो आकर्षण का तन्तु है और इस विनोद का उपकरण है शिशु । इसीलिए प्रेमचन्द ने बालकों के कथोपकथनों द्वारा सरसता का प्रतिपादन कराया है:—

रूपा—काका, बहन हमको रोज़ चिढ़ाती है कि तू रूपा है, मैं सोना हूँ । मेरा नाम कुछ और रख दो ।

होरी ने कहा—तू इसे क्यों चिढ़ाती है सोनिया ? सोना तो देखने को है । निवाह तो रूपा से होता है । रूपा न हो तो रूपे कहीं से बनें, बता ?

सोना ने अपने पक्ष का समर्थन किया—सोना न हो तो मोहर कैसे बने, नथुनियों कहीं से आयें, कण्ठ कैसे बने ?

गोबर भी इस विनोदमय विवाद में शरीक हो गया । रूपा से बोला—तू कह दे कि सोना तो सूखी पत्ती की तरह पीला होता है, रूपा तो उजला होता है जैसे सूरज ।

सोना बोली—शादी-ब्याह में पीली साड़ी पहनी जाती है, उजली साड़ी कोई नहीं पहनता ।

इसी प्रकार कोढ़ी जब अपनी पत्नी को मार रहा था और गोबर को उस पर दया आ गई थी तब कोढ़ी की पत्नी का गोबर को डाँटना बहुत विनोदपूर्ण है । एक दूसरा उदाहरण लें तो जब होरी का दण्ड ग्राम के नेताओं के सिर

पड़ गया तब दरोगा जी के साथ उनका जो वार्त्तालाप हुआ वह अत्यन्त सरस और आकर्षक है; पाठक उस स्वाभाविक वातावरण से दरोगा जी के साथ मिल कर गाँव वालों को दण्ड दिलवाना चाहता है—“मैं तुम चारों के घर की तलाशी लूँगा । बहुत मुमकिन है कि तुमने हीरा और होरी को फँसाकर उनसे सौ-पचास ऐंठने के लिए यह पाखण्ड रचा हो ।”

इन कथोपकथनों की अन्य विशेषता सामयिक समस्याओं पर प्रकाश और सूक्तियों की योजना है । ‘गोदान’ में इनके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, ग्रामीण लोग अपने वार्त्तालाप में सूक्तियों और मुहावरों का प्रयोग प्रायः करते भी हैं—(१) (भोला) बोला—भला आदमी वही है जो दूसरों की बहू-बेटी को अपनी बहू-बेटी समझे । जो दुष्ट किसी मेहरिया की ओर ताके उसे गोली मार देनी चाहिए ।

(होरी)—यह तुमने लाख रुपये की बात कह दी भाई । बस, सज्जन वही है जो दूसरों की आबरू को अपनी आबरू समझे ।

(२) (होरी)—यह बात नहीं, बेटा, छोटे बड़े भगवान् के घर से बन कर आते हैं । सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है ।

(गोबर)—यह सब मन समझाने की बातें हैं । भगवान् सबको बराबर बनाते हैं । यहाँ जिसके हाथ में लाठी है वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन सकता है ।

प्रेमचन्द के कथोपकथनों में खटकने वाली केवल एक बात है कि जहाँ कलाकार समस्याओं का विश्लेषण करने लगता है वहाँ कुछ पात्रों को साधन बनाकर उनके मुख से वार्त्तालाप करा देता है और कभी-कभी यह वार्त्तालाप एक भाषण बन जाता है । अधिकतर उपन्यासों के रायसाहब ऐसे ही भाषणों के आदी हैं । ‘प्रेमाश्रम’ के राय कमलानन्द बात करते-करते भाषण देने लगते हैं और बेचारे ज्ञानशंकर को वह सुनना पड़ता है । गोदान के रायसाहब अमरपालसिंह का भाषण उनका आसामी होरी तो सुन लेता है दूसरा आदमी शायद ऊबकर उठ आवेगा ।

ऐसा ही एक भाषण मुनिया ने गोबर को दिया, जिसको सुनकर 'बुद्धू' 'कुमार' गोबर के मन में यह अभिलाषा जाग उठी कि 'ऐसी रूप, गुण, ज्ञान की आगरी उसे मिल जाये, तो धन्य भाग।' एक बार गौतमी ने भी सम्पादक जी को एक लम्बी डाँट पिलाई। अन्यत्र सोना ने सिलिया को एक लम्बे व्याख्यान से फाड़ा। लेखक असावधानी में ऐसा भाषण नहीं दिलवाता प्रत्युत अभिमानी व्यक्ति प्रतिवक्ता के सामने अपने को बुद्धिमान् और उसको जिबुद्धि सिद्ध करने के लिए ऐसा उपदेश देते हैं। साथ ही इन भाषणों से समाज पर चलता हुआ व्यंग्य है जिससे पाठक का मनोरंजन भी होता चलता है। इनमें कथोपकथनों की सजीवता चाहे कम हो परन्तु वर्णन की मनोहरता श्रोत-प्रोत है।

प्रेमचन्द कथोपकथनों के धनी हैं। 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक उनकी औपन्यासिक कला इस गुण से समृद्ध मिलती है। 'गोदान' में जहाँ अन्य तत्त्व विकास की सीमा को प्राप्त हुए हैं वहाँ कथोपकथन भी अपने रूप-गुण से उपन्यास का महत्त्व बढ़ाते हैं। कथा-साहित्य को दृश्यकाव्य की आभा से सुशोभित करने की कला प्रेमचन्द का एक विशेष गुण है जिसका 'गोदान' में पूर्ण विकास है। 'गोदान' के कथोपकथन सहज, सजीव, रमणीय एवं विनोद-पूर्ण हैं; अन्तस्थ भावनाओं के स्फुरण से वक्ता के चरित्र का संकेत इनका फल है; बीच-बीच में सूक्तियाँ उनको काव्य-गुणों से भर देती हैं।

कहानी-कला

मनुष्य ने जब से समझने की योग्यता प्राप्त की तब से वह सामाजिक प्राणी बन गया; बोलने की योग्यता तो सभी प्राणियों में होती है, परन्तु 'समझकर बोलना' अर्थात् 'कहना' केवल मनुष्य का ही गुण है; पशु-पक्षियों का नहीं। जब कोई मनुष्य अनर्गल बोलता चला जाता है तो हम चौंककर कहते हैं—'क्या बक रहा है, कहीं पागल तो नहीं हो गया'; यह नहीं कहते कि 'क्या कह रहा है'। सौभाग्यवश हमारी भाषा में 'कहना' तथा 'बोलना'

दो अलग-अलग क्रियाएँ हैं जो यह निर्देश कर देती हैं कि कब हमने सोचकर बोला और कब बिना सोचे-समझे पशु के समान बनकर। परन्तु 'सुनने' के लिए हमारी भाषा में दो अलग-अलग शब्द नहीं हैं। फलतः 'सुनकर समझना' तथा 'सुनना' मात्र के लिए एक ही क्रिया 'सुनना' का प्रयोग होता है। जब हम कुछ कहें, परन्तु दूसरा उस पर ध्यान न दे तो हम उससे कहते हैं—'क्या सुन नहीं रहे?' सुन तो वह रहा है, हाँ ध्यान नहीं दे रहा, फिर भी हम कहते हैं कि 'सुन नहीं रहे'। अस्तु यह स्पष्ट हुआ कि 'समझकर बोलना' (कहना) तथा 'ध्यान से सुनना' ये दो क्रियाएँ मानव-संस्कृति का आधार हैं।

कहने तथा सुनने से ही कहानी का जन्म होता है, मनुष्य में ये दोनों प्रवृत्तियाँ अत्यन्त स्वाभाविक हैं, और सुनने से भी अधिक स्वाभाविक है सुनाना या कहना—यहाँ तक कि कुछ लोग अपनी ही सुनाये जाते हैं, दूसरों की सुनना नहीं चाहते। जो मनुष्य दूसरे की जितनी कम सुन सकता है उस को उतना ही कम सभ्य समझना चाहिए। जब हम किसी को अपनी सुनाते हैं, या उसकी बात सुनते हैं तो हम यह अनुभव करते हैं कि वह भी हमारे समान ही मनुष्य है—जो हमको अपनी सारी बातें बतला दे और जिसको हम सब कुछ बतला सकें वह सामान्य मनुष्य ही नहीं हमारा अपना सगा है। अस्तु, अपनी कहना तथा दूसरे की सुनना—'आपबीती'—कहानी का प्रारम्भिक रूप है, जो किसी न किसी रूप में आज भी सभी देशों और सभी जातियों में पाया जाता है।

प्रत्येक मनुष्य में अहंभाव पाया जाता है। यदि आप उसको अपनी बीती सुनाएँ और वह सुनने वाला आपका अपना ही सगा नहीं है तो उसके अहं को आघात पहुँचेगा, वह आपकी क्यों सुनने लगा; और उसकी बीती आप जानते नहीं, इसलिए आप उसको किसी तीसरे की बीती सुनाइए। यही 'परबीती' कहानी का कुछ विकसित दूसरा रूप है। राजाओं, देवों, परियों तथा दानवों की कहानियाँ सभ्यता के इतिहास में प्रसिद्ध हैं—मनुष्य से अधिक

समर्थ प्राणी की कहानी मनुष्य को सुनाना उसको प्रेरणा भी देना है, इसलिए प्राचीन युग की कहानियाँ प्रायः इसी प्रकार की हुआ करती थीं।

कहानी का सबसे विकसित रूप वह है जिसमें न अपनी कहानी सुनाई जाती है, न आपकी, न किसी तीसरे की, प्रत्युत हम सबकी कहानी कहते हैं। यह कहानी अधिक सामाजिक है, क्योंकि इसकी घटनाएँ और इसके पात्र सर्वत्र हैं या सर्वत्र हो सकते हैं। इसमें ऐसी एक भी बात नहीं मिलती जो इस संसार में होती न हो—यह आधुनिक कहानी अपनी स्वाभाविकता के ही कारण इतनी लोकप्रिय हो गई है।

काव्य के दो मूल तत्त्व हैं—कथा तथा गीत, अतः काव्य में कथा किसी न किसी रूप में तो पाई ही जाती है, फिर भी 'कथा' साहित्य के उस रूप को ही कहा जाता था जिसमें कथा-तत्त्व ही मुख्य हो, गीत-तत्त्व बहुत कम। कथा या कहानी की खोज करते-करते विवेचक वेद तक पहुँच जाते हैं और कथा-तत्त्व को ही कथा मान लेते हैं, परन्तु कथा-तत्त्व से युक्त प्रत्येक काव्य कथा या कहानी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा वेद-पुराण, रामायण-महाभारत सभी को कहानी कह दिया जावेगा। प्राचीन अर्थ में भी 'कहानी' उसी को कहना चाहिए जिसमें जीवन का आंशिक स्पर्श हो, समग्र या व्यापक चित्र नहीं। इस प्रकार महाकाव्य कहानी नहीं कहा जा सकता, पुराणेतिहास भी नहीं—राम के जीवन की एक घटना कहानी कहो जा सकती है परन्तु राम का सारा जीवन नहीं, क्योंकि राम हमारे आदर्श नायक हैं, उनका जीवन हमारे राष्ट्र का एकत्रीभूत जीवन है। जहाँ घटनाएँ कल्पना पर आश्रित रहती हैं और प्रायः मनोरंजन ही उद्देश्य रहता है वहाँ सारे जीवन की कथा में भी राष्ट्र का जीवन नहीं झँकता, इसलिए इस प्रकार की कथा को कहानी ही कहा जाता है जैसे पद्मावती की कहानी। अतः कहानी की कसौटी केवल एक ही हुई—ऐसी कथा जिसमें राष्ट्रीय जीवन का पूरा चित्र न आवे, घटनाएँ ऐतिहासिक हों या कल्पित, यदि ऐतिहासिक हों तो पात्रों की आंशिक झँकी दिखलावे, यदि कल्पित हों तो मनोरंजन या उपदेश के एक उद्देश्य को लेकर चले।

यों तो भारतीय कहानी के दो रूप मान लिये जाते हैं—प्राचीन तथा अर्वाचीन—एक अंग्रेज़ी प्रभाव से पूर्व, दूसरा उससे उत्तर, परन्तु हमारे कहानी-साहित्य में आठ प्रकार का रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। कहानी का सबसे प्राचीन रूप वैदिक है जो वेद से लेकर पुराणों तक पाया जाता है, कहानी का नाम था आख्यान, दृष्टान्त तथा कथा। श्रद्धारखने वाले जिज्ञासु ने जब आदरणीय वक्ता के सम्मुख अपनी कोई शंका रखी तो उसका समाधान करते हुए वक्ता ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहा, और आख्यान या दृष्टान्त के रूप में अतीत की कोई आदर्श घटना सुना दी। इस कहानी में आदर्श ही आदर्श है—घटना में भी तथा पात्रों में भी, सावित्री अपने मृत पति को जीवित कर सकती है, शाप तथा वरदान अपना फल दिए बिना नहीं रुकते। पात्र देव भी हो सकते हैं तथा दानव भी, परन्तु दोनों आदर्श होंगे, अपने-अपने गुणों में। कर्म का फल मिलेगा, अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा। इस प्रकार सबसे पुरानी कहानी, आदर्शात्मक तथा उपदेशात्मक थी, उसकी सामाजिकता में अलौकिकता का गहरा पुट था। श्रद्धा के बिना ऐसी कहानी पच नहीं सकती।

कहानी का दूसरा रूप जातक-कथाओं, पंचतन्त्र तथा हितोपदेश में मिलता है। महात्मा बुद्ध मानव शरीर प्राप्त करने से पूर्व-बौद्धसत्त्व की अवस्था में अनेक मनुष्येतर योनियों में रह चुके थे; जब उनके पूर्व-जन्म की कथाएँ सुनाई गईं तो पशु-पक्षी भी कहानी के पात्र बन गये। अनुमान से जान पड़ता है कि यह कहानी लोक-साहित्य का ही एक रूप है जो पहिले लोक-भाषाओं में फैला, फिर आर्यों की भाषा संस्कृत में अपनाया गया। पशु-पक्षियों की इन कथाओं का इतना प्रचार हुआ कि इनको आख्यान तथा दृष्टान्त से भी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई, और विदेशों में इनका अन्वाधुन्य अनुकरण हुआ—भारत से यूनान, यूनान से अरब, फिर यूरोप तथा अफ्रीका में इनका साम्राज्य छा गया। ईसप की कहानियाँ तथा अलिफ-लैला की कहानियाँ अपने-अपने देशों में बड़े सम्मान से पढ़ी जाती हैं।

फिर रोमानी कथाओं का युग आया। वृहत्कथा तो पैशाची में लिखी गई

थी, परन्तु उससे मिलती-जुलती कथा-सरित्सागर, कादम्बरी, दशकुमार-चरित आदि कथाएँ संस्कृत में लिखी गईं। अलिफ-लैला की कहानियों पर भी इनका प्रभाव जान पड़ता है। वह समय ऐसा था जब नीति या उपदेश के लिए न पढ़कर मनोरंजन या कल्पना-लोक में विचरण करने के लिए ही साहित्य पढ़ा जाता था। कहानी का इतना महत्त्व बढ़ा कि कादम्बरी लिखने वाले बाणभट्ट कवियों के शिरोमणि मान लिये गये।

ये कहानियाँ साहित्यिक थीं, इनके साथ ही सस्ता साहित्य भी विकसित हुआ, जिसके उदाहरणस्वरूप संस्कृत की शुकसप्तति, बेताल पंचविंशति तथा सिंहासनद्वाविंशतिका आदि को लिया जा सकता है। प्रायः ये कथाएँ या तो जैन लेखकों ने लिखी हैं या उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं।

कहानी के उपयुक्त चारों रूप मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में विकसित हो गये थे। मुसलमानों के शासन-काल में दो रूप और दिखलाई पड़ते हैं। एक है अरबी तथा फारसी से प्रभावित होकर 'शुकसप्तति' शैली की कहानियों का जन्म, जिनमें से अधिकतर का सम्बन्ध बीरबल से जोड़ा जाता है, कुछ का आधार हातिम आदि की कथाएँ हैं, तथा कुछ में अलिफ-लैला का गन्दा अनुकरण है। यह साहित्य सदा बाजारू ही रहा, और धीरे-धीरे सभ्य समाज ने इसको बिल्कुल त्याग दिया। परन्तु दूसरा रूप जो अधिक स्थायी बना अर्द्धऐतिहासिक काव्यों का है, इनकी मुख्य विशेषता यह है कि ये पद्य में हैं, और प्रायः मुसलमानों ने ही हिन्दी में लिखे हैं, इनमें लौकिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम को भी कहीं-कहीं घोल दिया है—साहित्य में इनको सूफी-काव्य या प्रेमाख्यानक काव्य कहा जाता है, परन्तु इनका ठीक नाम 'लोक-कहानी' ही है।

अंग्रेज़ी के आने पर 'अर्वाचीन कहानी' का जन्म होता है, यह नवीन युग की उपज थी और पश्चिम से आई थी, इसलिए इसमें पश्चिम का ही भरपूर अनुकरण हुआ। आरम्भ में प्रभाव अंग्रेज़ी तथा फ्रांसीसी कहानियों का रहा, और फिर रूसी प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ने लगा—यह कहानी का

नवीनतम रूप है। आज की हमारी कहानी रंग-रूप में पश्चिमी है, परन्तु उसने अपने व्यक्तित्व का भी काफी विकास कर लिया है।

पुरानी तथा नवीन कहानी का अन्तर जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि अर्वाचीन कहानी के रूप को ठीक-ठीक समझ लिया जावे। अंग्रेज़ी में कल्पनात्मक कथा-साहित्य के लिए एक सामान्य शब्द 'फिक्शन' का प्रयोग होता है पहिले 'फिक्शन' का अर्थ 'उपन्यास' था, परन्तु धीरे-धीरे 'शार्ट स्टोरी' भी इसी के अन्तर्गत आ गई। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कहानी (शार्ट स्टोरी) की मुख्य विशेषता उसका छोटा सा आकार है [जब विज्ञान ने जीवन में संघर्ष उत्पन्न कर दिया और समय का मूल्य भौतिक सिक्के में आँका जाने लगा तो जनता को ऐसे साहित्य की आवश्यकता पड़ी जो थोड़े-से-थोड़े समय में ही मन में तरंगें उत्पन्न कर दे; युग विज्ञान का था, पद्य तो किसी प्रकार अपने दिन पूरे कर रहा था इसलिए इस साहित्य का भार गद्य के कंधों पर आया; इधर विज्ञान ने जब मनोरंजन के अधिक सस्ते तथा अच्छे साधन दे दिये तो नये साहित्य का क्षेत्र और भी संकुचित बन गया। यही कहानी का पूर्वाभास है—संक्षेप, गद्य तथा विचार-वहन (केवल मनोरंजन ही नहीं) इन तीनों गुणों से सम्पन्न साहित्य का यह रूप यूरोप में जन्मा, और अमरीका ने इसके पनपने में सहयोग दिया]। पश्चिम के प्रत्येक देश ने अपनी-अपनी राष्ट्रीय प्रवृत्ति के अनुसार इसमें अपनी छाप लगा दी है। अमरीकी कहानी में रोमानी तथा मनोविज्ञान को स्थान मिला है तो फ्रांसीसी कहानी में रोमानी और साहसिकता को, रूसी कहानियाँ जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान, मजदूर-किसान एवं साम्यवाद को उद्देश्य मानकर चलती हैं। राष्ट्रों के समान व्यक्तियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी कहानियों में झलकती हैं—केवल भारत के ही उदाहरण लें तो शरत् में घरेलू चित्र, रवीन्द्र में जीवन की विशालता, प्रेमचन्द में मजदूर तथा किसान, और प्रसाद में मानव-हृदय का रहस्य ही मुख्यतः चित्रण का विषय बने हैं।

कहानी संक्षिप्त होनी चाहिए—इस बात को विभिन्न लेखकों ने विभिन्न

प्रकार से कहा है। एलेन पो^१ का मत है कि कहानी एक बैठक में पढ़ी जा सके, इतनी ही बड़ी हो। एच० जी० वेल्स^२ ने २० मिनट तक का समय कहानी पढ़ने के लिए स्वीकार किया है, और कहानी में प्रयुक्त शब्दों की संख्या पर भी जोर दिया है। अमरीका की अधिकतर पत्रिकाएँ कहानी के ऊपर शीर्षक के साथ-साथ शब्द-संख्या तथा वाचन-काल भी दे देती हैं। संचेप का यह गुण इतना प्रधान है कि स्ट्रॉंग^३ ने और सभी बातों पर विचार करने के अनन्तर यही निश्चय लिया है कि कहानी गद्य में लिखी हुई एक संचिप्त कथा है, इससे अधिक उपयुक्त परिभाषा पृष्ठन की आवश्यकता नहीं। जिसके बिना काम चल सके, ऐसी एक भी घटना, एक भी पात्र, एक भी शब्द, आज की कहानी में न आना चाहिए।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि किसी भी घटना को बीच में तोड़ देने पर वह कहानियों में विभक्त हो जायगी, कहानी संचिप्त होने के साथ-साथ पूर्ण भी होती है—अपने आप में स्वतः ही पूर्ण। और यह ‘संचेप के साथ पूर्णता ही’ कहानी की सफलता की कसौटी है। कहानीकार का लक्ष्य एक विचार, एक भाव, एक रहस्य या एक घटना-भर हो, पढ़ने के उपरान्त पाठक के सामने केवल एक ही बात रहे और उस बात पर साधन का केवल एक ही दृष्टिकोण। प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः मजदूर-कसानों के चित्र खींचती हैं और उनके जीवन का सौन्दर्य दिखाता है, परन्तु प्रत्येक कहानी उस सौन्दर्य को केवल एक किनारे से देखता है—कहीं उनकी न्याय-बुद्धि,

१. “ए शॉर्ट स्टोरी इज़ ए नैरेटिव शॉर्ट एनफ़ टुवी रैंड इन ए सिंगिल सिटिंग”—एडगर एलेन पो।

२. “एनी पीस ऑव शॉर्ट फ़िक्शन ह्विच वुड बी रैंड इन ट्वेंटी मिनट्स वुड बी शॉर्ट स्टोरी।” H. G. Wells

३. “दु सम अप : ए शॉर्ट स्टोरी इज़ ए शॉर्ट पीस ऑव प्रोज़ फ़िक्शन वो नीड आस्क नो क्लोज़र डेफ़िनिशन।”—एल० ए० जी० स्ट्रॉंग; दि शॉर्ट स्टोरी (इंगलिश लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ३२३)।

४. “ब्रीविटी विद कम्प्लीटनेस”—वही।

कहीं पारस्परिक प्रेम, तो कहीं ईमानदारी। प्रसाद की कहानियाँ हृदय के रहस्य का उद्घाटन करती हैं, परन्तु प्रत्येक कहानी में नई-नई परिस्थितियाँ, नये-नये संवर्ष, और इसलिए नये नये रहस्य—एक कहानी में केवल एक, परन्तु प्रत्येक अपने आप में पूरा।

कहानी के विषय क्या-क्या हो सकते हैं—यह कहना बड़ा कठिन है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लेखकों ने माध्यम बनाकर उसके द्वारा अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। प्रेमचन्द में भारतीय ग्रामीण संस्कृति का आकर्षण है, प्रसाद में भावों का मधुर संवर्ष, राहुल सांकृत्यायन की कहानियाँ ऐतिहासिक खोजों पर आश्रित हैं, तो यशपाल ने पूँजीवादी व्यवस्था की खिल्ली उड़ाई है। कहानी यदि वस्तुतः रमणीय है तो आपके पास आकर जो कुछ भी कहे, जिस प्रकार भी कहे, आपके मन को अपने वश में कर लेगी। बेट्स^१ का मत है कि कहानी इस भूतल पर हाने वाले किसी भी विषय पर लिखी जा सकती है—किसी घड़े की मृत्यु जैसी शुष्क घटना से लेकर एक नवयुवती के प्रथम प्रेम-व्यापार जैसे सरस वर्णन तक इसके क्षेत्र में आ सकते हैं। शायद इसीलिए चैकावर^२ ने कहा है कि कहानी मामूली बातों पर लिखी जानी चाहिए जैसे पीटर का मेरिया से किस प्रकार विवाह हुआ—वस इतनी सी बात पर।

आज की कहानी गद्य में ही होती है, सरल तथा सुबोध गद्य में। पाठक के पास न इतना समय है और न इतना धैर्य कि वह आपकी भाषा को समझने का प्रयत्न करे और फिर आपके विचारों को ग्रहण करने के योग्य बन सके। कहानी का उद्देश्य कहानी सुना बैठना नहीं है, न रस में विभोर कर देना, और न किसी ज्ञान-विज्ञान का आद्योपान्त परिचय ही करा देना, प्रत्युत

१. “एनी सबजैक्ट अंडर दि सन, फ्रौम दि डैथ ऑव ए होर्स टु ए यंग गर्ल्स फर्स्ट लव अफेयर।”—एच० ई० बेट्स।

२. “वन मस्ट राइट एबाउट सिम्पल थिंग्स: हाऊ पीटर मैरिड मेरिया: दैट इज़ ऑल।”

बिजली के समान क्षण भर चमकने वाली कहानी हमारी आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर आगे बढ़ जाती है सत्य या सौन्दर्य की एक झलक दिखाकर ही ।

इस प्रकार पुरानी तथा नई कहानी का मुख्य अन्तर तो आकार का रहा । कादम्बरी की कहानी को लीजिए, पढ़ने वाला उब जाएगा परन्तु कहानी का अन्त आता न दिखलाई पड़ेगा, सारे जीवन के विस्तृत व्यापार, जन्म-जन्मान्तरों की कथायें—सभी तो प्राचीन कहानी में मिलता था । नई कहानी, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, आकार में अत्यन्त छोटी होती हैं, केवल एक जीवन की—एक व्यक्ति की—एक पक्ष की—एक दृष्टिकोण से लिखी गई कथा । कहानी में केवल एक ही घटना हो और प्रायः एक ही मुख्य पात्र जिसके जीवन के एक अंश को हम केवल एक ही दृष्टिकोण से देखें । पुरानी कहानी वर्णन-प्रधान थी जिसमें लेखक की कला अधिक से अधिक विषयों के सफल चित्रों पर निर्भर थी, परन्तु आज की कहानी-कला वर्णन को तो महत्त्व देती ही नहीं कम से कम में अपना काम चलाती है—प्राचीन कला की कसौटी थी विस्तार तथा निर्वाह, आज की कसौटी है संक्षेप तथा संकोच । पुरानी कहानी जीवन का चित्र खींचती थी आज की कहानी लक्ष्य को पकड़कर चलती है । अतः हेनरी हडसन^१ के शब्दों में कहानी-कला का मूल्य आँकने के लिए हमारे पास दो महान् सिद्धान्त हैं—उद्देश्य की अनन्यता तथा प्रभावों की अनन्यता । जिस एकमात्र उद्देश्य को लेकर लेखक चलता है उसी का पूरा तथा सफल प्रभाव पाठक पर उसी मात्रा में पड़ना चाहिए ।

कहानी में अपनी छोटी-सी बात बहुत संक्षेप से कही ही जानी चाहिए, साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो कुछ हम कहें वह इसी जीवन का ज्यों-का-त्यों सत्य हो । आजकल की कहानी किसी भी ऐसी घटना को स्वीकार

१. “सिगिलनैस ऑव एम एण्ड सिगिलनैस ऑव इफैक्टस आर, देअर-फोर दि दू ग्रेट केनन्स बाइ क्लिच वी हैव दू ट्राइ दि वैल्यू ऑव ए शॉर्ट स्टोरी एज ए पीस ऑव आर्ट ।”
—हेनरी हडसन ।

नहीं करती, जिसमें हमारे जीवन का वास्तविक चित्र न झँकता हो, स्वर्ग तथा नरक, देव तथा दानव, शाप तथा वरदान, सिद्धि तथा चमत्कार आज के युग में उपहास को दृष्टि से देखे जाते हैं, आज मरे हुए व्यक्ति को जीवित नहीं किया जा सकता, किसी पर आपत्तियों का पर्वत टूटता देखकर भगवान दौड़े हुए नहीं आ सकते, कोई भी व्यक्ति तीन जन्मों की बातें नहीं बता सकता, पशु-पक्षी मनुष्य की बोली न समझते हैं और न बोलते हैं, दीपक को रगड़ने पर देव आपकी सेवा में उपस्थित नहीं हो पाता आदि। सारांश यह है कि आज विज्ञान का युग है—भौतिक विज्ञान का; आज हम ऐसी किसी भी बात पर विश्वास नहीं करते, जो स्थूल प्रत्यक्ष की कसौटी पर पूरी न उतर सके। पुरानी कहानी में इन्हीं बातों का साम्राज्य था; परन्तु नई कहानी इनका पूर्ण बहिष्कार कर देती है। अर्वाचीन कहानी में भौतिकता तथा युद्धिवाद का ही ज़ोर है, इनसे बाहर की चीज़ों को वह दिवास्वप्न या निष्ठल मस्तिष्क की उपज समझती है। पुराने युग में आवश्यकताएँ कम थीं, अतः जीवन में सन्तोष था और लोग सूक्ष्मता की ओर जाना ही सफलता का चिह्न समझते थे, परन्तु आज जीवन में संघर्ष है—असन्तोष है, हम ऐसा साहित्य पसंद करते हैं जो इस दौड़ में किसी-न-किसी प्रकार सहायक हो। कहानी तो आज का सबसे अनुकूल साहित्य है इसलिए इसमें इस युग-प्रवृत्ति का सबसे अधिक ध्यान रखना पड़ता है।

अलौकिक या असम्भव का परित्याग ही पर्याप्त नहीं, आज की कहानी में ठोस स्वाभाविकता होनी चाहिए; घटनाएँ तथा पात्र इसी लोक के तो हों ही, इसी समाज के भी होने चाहिए। उनका रूप-रंग, आकृति-आकार, वेश-भूषा, चाल-ढाल, बात-चीत सभी कुछ हमारा सुपरिचित हो—और बातों को तो आज की कहानी में दिखाया नहीं जा सकता; परन्तु लहजा तथा भाषा से पात्रों के व्यक्तिगत जीवन का आभास अवश्य मिल जाना चाहिए। आज की कहानी प्रत्येक पाठक की कहानी है, प्रत्येक वाक्य में उसका हृदय बोलता है या उसकी आँखें देखती हैं; पाठक यह अनुभव करता चलता है कि ठीक ऐसा

ही तो है—ठीक ऐसा ही तो होता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि कहानी-लेखक केवल इधर-उधर को घटनाओं का ही संग्रह करता है, कल्पना आज भी उतनी ही बलवती है, केवल उसका रस थोड़ा-सा बदल गया है—पहिले उसका मुख ऊपर की ओर था—आकाश की ओर, आज यह सामने देखती है, इसी पृथ्वी को, और घुस जाती है धनियों की रंगरेलियों में, गरीबों की भारी साँसों में, असफल प्रेमियों के मौन रुदन में तथा मजदूरों का खून स्वाहा कर रात-दिन जलनेवाले मिलों के धुएँ में। लेखक केवल यही नहीं कहता कि क्या होता है, प्रत्युत यह भी बतलाता है कि क्या हो सकता है; और यही पिछली बात उसको उच्च कोटि का कलाकार बना सकती है।

अभिप्राय यह है कि आज की कहानी का आधार मनोविज्ञान है—पात्रों के व्यक्तित्व तथा परिस्थितियों को देखते हुए उनका स्वाभाविक आचरण। यही आज की कहानी का सत्य है, जिसका प्रदर्शन लेखक की सफलता का सबसे बड़ा चिह्न है। एक ही पेशे के, एक ही देश-जाति के, एक ही शिक्षा के दां व्यक्ति समान परिस्थिति में भी भिन्न प्रकार के आचरण करते हैं—इसी सूक्ष्म भेद का चित्रण कहानी का मुख्य विषय हो सकता है। दो सगे भाई स्थूलतः भले ही एक-से लगें, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उनमें भेद मिलेगा—कहानी-लेखक उस साम्य को भी दिखलावेगा तथा इस वैषम्य को भी।

पुरानी कहानी का आरम्भ तथा अन्त एक सामान्य कथात्मक ढंग से ही होता था—‘पुराने युग में अयोध्या नाम की एक नगरी थी जिसमें दशरथ नाम का राजा राज्य करता था, जिसके तीन रानियाँ थीं; ‘प्राचीन काल में जब बनारस में ब्रह्मदत्त का राज्य था; पुरानी कहानी का आरम्भ लम्बे-चौड़े वर्णनों से होता था या कहानी के फल को समझाते हुए। परन्तु नई कहानी पाठक को इधर-उधर घुमाना नहीं चाहती, प्रत्युत जल्दी-से-जल्दी असली बात पर आ जाती है, प्रायः नाटकीय ढंग से आरम्भ कर दिया जाता है और कथोपकथन के अन्त तक आपस में बात करने वाले पात्रों का परिचय तक नहीं कराया जाता।

यह आवश्यक नहीं कि कहानी कथोपकथन से ही प्रारम्भ हो, उसमें वर्णन भी हो सकता है, परन्तु यह वर्णन केवल वर्णन के लिए ही न हो प्रत्युत भाव-प्रकाशन के लिए या पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए हो। आज लेखक तथा पाठक के पास समय इतना कम है कि वे बाह्य प्रकृति में रुचि नहीं रख सकते—बाह्य प्रकृति का स्थान आज अन्तःप्रकृति ने ले लिया है; बाह्य संघर्ष के स्थान पर अन्तःसंघर्ष अधिकार कर बैठा है; स्थूल चित्रण के स्थान पर सूक्ष्म चित्रण आज कहानी का विषय बन गया है। आज की कहानी हमारे सामान्य जीवन का स्वाभाविक चित्र है, जिसको थोड़े से समय में ही पढ़कर हम अपने समाज के विषय में—अपने आस पास के लोगों के विषय में—बहुत कुछ जान जाते हैं।

कहानी मात्र की सफलता इस बात पर निर्भर है कि श्रोता उत्सुकता-पूर्वक उसको सुन ले और प्रतिफल उसकी उत्सुकता बढ़ती ही चले। वह जैसा सोचता हो वैसा न हो, प्रति घटना पर वह अन्त का अनुमान करे, परन्तु प्रति घटना पर विलक्षणता आ जाय। उत्सुकता, कौतूहल तथा विलक्षणता श्रोता की नस-नस में व्याप्त है, कहानी-लेखक को इनसे लाभ उठाना चाहिए। परन्तु ध्यान रहे कि विलक्षणता के लिए लेखक को स्वाभाविकता तथा यथार्थ के कोर्ट में जवाब देना पड़ेगा—विलक्षणता अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं परिस्थितियों की यांजना से ही इसका आगमन होना चाहिए।

पुरानी कहानी को पढ़कर किसी बात का उत्तर मिल जाता था और पाठक के मन को संतोष हो जाया करता था; परन्तु आज की कहानी का उद्देश्य यह नहीं है—आज का लेखक कथा का कोई अंत नहीं दिखलाता, क्योंकि उसका लक्ष्य कथा नहीं है। प्रसादजी की कहानी 'पुरस्कार' में हम यह जानना चाहते हैं कि राजा ने 'अरुण' और 'मधूलिका' दोनों को प्राण-दण्ड दे दिया, या दोनों को क्षमा कर दिया, या 'अरुण' को प्राण-दण्ड तथा 'मधूलिका' को क्षमा—परन्तु लेखक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता। जीवन बहुत व्यापक है, इसमें न जाने कौन-कौनसी बातें अपना प्रभाव दिखलाती हैं, फिर यह कहना कि इस व्यक्ति या घटना का यही अंत होगा, कैसे सम्भव है? और

किसी व्यक्ति या घटना का अंत उस समय तक नहीं बतलाया जा सकता जब तक कि उसके सम्पर्क में आनेवाले सारे संसार का चित्र भी साथ न हो— यह उपन्यास का विषय है कहानी का नहीं। इस प्रकार उत्सुकता से प्रारम्भ, तथा कल्पना में अंत—कहानी की ये दो मुख्य विशेषताएँ हैं जो उसको सर्वत्र लोकप्रिय बनाती हैं। शायद इसीलिए एक पारचाय्य विद्वान् का मत है कि कहानी में उसके प्रारम्भ और अंत का ही सबसे अधिक महत्त्व है।

बिहारी सतसई में इतिहास

कथा के कठोर बंधन से मुक्त रहने वाले मुक्तक काव्य का प्राण ध्वनि है। प्रबन्ध काव्य में अर्थ की संगति के लिए पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा होती है; इसके विपरीत मुक्तक काव्य का वातावरण जानने के लिए कवि-प्रयुक्त शब्दों पर ही निर्भर रहकर उनसे संकेत ग्रहण किया जाता है। इसलिए वही मुक्तक अधिक सफल माना जाता है जिसकी शब्दावली अर्थ-गौरव से सुसम्पन्न हो। बिहारी की सतसई में मुक्तक काव्य का यह गुण बहुत बड़ी मात्रा में है। वक्ता, श्रोता और वातावरण के भेद से प्रत्येक दोहे के अलग-अलग अर्थ तो होते ही हैं, उन दोहों में कवि का दृष्टिकोण भी अनेक प्रकार का दिखाई पड़ता है। यदि सतसई के पहले दोहे को ही लें तो सामान्य दृष्टि से उसमें मंगलाचरण माना जाता है, कुछ लोग उस दोहे से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बिहारी राधा के उपासक थे, और बहुत से आलोचक उसमें बिहारी का बहुमुखी ज्ञान खोज लेते हैं; परन्तु रस की दृष्टि से इस दोहे में नायक-नायिका की अभीष्ट रति का संकेत रति-पूर्व दशा के चित्रण द्वारा किया गया है—राधा के अवलोकन-मात्र से कृष्ण प्रमुदित होते हैं और उनमें रति की वासना जग

जाती है, फिर परदा गिर गया, आगे की बात पाठक स्वयं समझ लें। नख-शिख के किसी भी दोहे को देख लीजिये; यदि उसको सखी के प्रति नायक की उक्ति मानें तो उसमें मन मिलाने से पूर्व की कामोद्दीप्त दशा का चित्र है, और यदि उसको नायक के प्रति सखी की उक्ति मानें तो यह भी मानिये कि सखी या तो नायिका के प्रयत्न से या अपने आप ही, नायक को फुसलाकर नायिका में अनुरक्त कराना चाहती है।

सतसई की अन्वयोक्तियाँ नीति और शृंगार के समानान्तर चित्र उपस्थित करती हैं। ध्वनि-जीवी नागर शृंगार की यह कृति नेत्रों के संकेत, 'मुस्कराहट' की आभा और अंगों की गति द्वारा गुरुजन, सखीजन तथा 'श्याम' को अलग-अलग सन्देश देती है। एक ही पाठक के लिए कुछ दोहे वस्तुतः विरोधी संकेत प्रस्तुत करते हैं :—

(क) मन मोहन सौ मोहु करि, तू घनस्यासु निहारि।

कुंज बिहारी सौ बिहरि, गिरधारी उरधारि ॥६४१॥

(ख) अरे परेखौ को करै, तुँ ही बिलोकि विचारि।

किहिं नर, किहिं सर राखियै खरै बड़ै परिपारि ॥६२०॥

प्रथम दोहे में सामान्यतः भक्त की उक्ति मालूम पड़ेगी, परन्तु नायक के पर्यायवाची नामों से यह संकेत भी समान भाव से उपलब्ध है कि गुरुजन से छिपकर सखी विरक्तिमना नायिका को नायक में अनुरक्त होने का उपदेश दे रही है। इसी प्रकार दूसरे दोहे में सामान्यतः एक व्यक्ति की मित्र से शिकायत है, परन्तु साथ ही यह उक्ति सखी द्वारा उस नायिका के प्रति मानी जायगी जिसने पहले तो संकोचशील नायक को प्रश्रय दिया, फिर उसकी उदासीनता को गरूर समझने लगी—यही फल होता है छोटे आदमी को सिर चढ़ाने का, जो पहले आकर टकराता था वह अब तेरी क्यों परवाह करने लगा, यही पुरुष-जाति का स्वभाव है।

मुक्तक रचना में कथा के बन्धन टूट जाते हैं, कवि प्रत्येक छन्द के लिए स्वतन्त्र वातावरण की कल्पना करता है। अतः मुक्तक काव्यकार की सृष्टि

का भावन पाठक के सक्रिय सहयोग के बिना पूर्ण नहीं होता, और क्योंकि पाठकों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है इसलिए मुक्तक रचना के भावन में विरोधी ध्वनियों का अस्तित्व स्वाभाविक है। भावयित्री प्रतिभा का पूर्ण उपयोग यदि कहीं लक्षित होता है तो मुक्तक रचना ही में, और कोई आश्चर्य नहीं कि यदा-कदा कवि की प्रतिभा भावक की प्रतिभा के सामने फीकी दिखाई पड़ने लगे। बिहारी-सतसई के विषय में ऐसा हुआ भी है। विद्वान् भावकों ने शृंगार तथा नीति के साथ-साथ भक्ति, वैद्यक तथा इतिहास के चमत्कार भी इन दोहों में खोजे हैं। इस दिशा में नवीनतम प्रयत्न श्री कालीप्रसाद खेतान का है; “बिहारी की सतसई में भारतीय इतिहास का दर्शन”^१ नामी कृति में श्री खेतान जी ने सतसई के दोहों से ऐतिहासिक सामग्री का चयन-पूर्वक प्रदर्शन किया है और “बिहारी की सतसई में हिन्दू धर्म की व्याख्या” नाम की कृति में विद्वान् लेखक ने हरि-राधिकाप्रसाद से इन दोहों के ‘अनेक सवाद’ स्वीकार करते हुए धर्मपरक अर्थ की योजना की है। धर्मपरक व्याख्या में २७ पृष्ठ के चार लेख हैं, जिनमें लेखक का उद्देश्य धार्मिक दृष्टि से सतसई को देखने का है, जो कबीर की उलटबासियों की शैली पर कूटकाव्य की परम्परा में लगता है। ऐतिहासिक व्याख्या या “भारतीय इतिहास का दर्शन” २५५ पृष्ठ की पुस्तक में है जो अपने आकार के कारण भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है।

बिहारी सतसई में ऐतिहासिक सामग्री चार प्रकार की है। सर्वप्रथम वे दोहे हैं जिनमें ऐतिहासिक प्रसंग वाच्य हैं :—

(क) रहति न रन, जयसाहि-मुख लखि लाखनु की फौज।

जाँचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज ॥८०॥^२

(ख) प्रतिबिम्बित जयसाहि-दुति, दीपति दरपन-धाम।

सबु जगु जीतन कौ करयौ, काय-व्यूहु मनु काम ॥१६७॥

१. प्रकाशक—श्री नवलकिशोर अग्रवाल, बैरिस्टर, पुस्तक सदन,
१० जैकसन लेन, कलकत्ता-१।

२. दोहों की संख्या ‘बिहारी-रत्नाकर’ (नवीन संस्करण, १९५१) के अनुसार है।

- (ग) सामाँ सेन, सयान की सबै साहि कै साथ ।
बाहुबली, जयसाहिजू, फते तिहारै हाथ ॥७१०॥
- (घ) यौ दल काढ़े बलक तैं, तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अघासुर कै परै, ज्यौ हरि गाइ, गुवाल ॥७११॥
- (ङ) घर-घरतुरकिनि, हिन्दुनी देति असीस सराहि ।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी जयसाहि ॥७१२॥
- (च) हुकुम पाइ जेयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद ।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥७१३॥

आदि में 'जयसाहि' का स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है ।

ऐतिहासिक सामग्री का दूसरा वर्ग उन दोहों का है, जिनमें अन्योक्ति-पद्धति पर जयशाह के विषय में भावकों ने संकेत स्वीकार किये हैं । इनके प्रसिद्ध दोहे हैं :—

- (क) नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल ।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥३८॥
- (खं) स्वारथु, सुकृतु न, अमु वृथा; देखि, बिहंग, विचारि ।
बाज, पराएँ पानि पर तूँ पच्छीनु न मारि ॥३००॥

तीसरे वर्ग में वे दोहे आते हैं जिनसे तत्कालीन समाज की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का अनुमान लगाया जा सकता है; बिहारी के मन में वह वातावरण अवश्य रहा होगा जिसमें वे रहते थे और शृंगार के दोहों में भी उसकी झलक अवश्य आती रही होगी । उदाहरण के लिए वर्षा-वर्णन का यह दोहा :—

पावस घन-अंधियार में, रह्यौ भेद नहिं आनु ।

राति-दिवस जान्यौ परत, लखि चकई-चकवानु ॥ ४८६ ॥

यहाँ बिहारी ने अपने युग का संकेत दिया है, जो ऐसा दुर्दिन था जिसमें अत्याचारों की दिगन्तव्यापिनी घटाओं ने सामाजिकों की दृष्टि को स्तम्भित कर दिया था, वे यह न जानते थे कि उनके लिए क्या सुख है और क्या दुःख

है; अतः प्रिय का सम्पर्क ही सन्तप्त मन की तृप्ति का कारण बनकर, चकवा-चकवी के समान, उनके लिए सुख या दिन का सूचक था। कवि ने जो कुछ स्पष्ट कह दिया वह तो उसका अभिप्रेत है ही, जो अप्रस्तुत या सांकेतिक रूप से आया है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि उसके सहारे ही तो अतीत के कवि के व्यक्तित्व का आभास मिल सकता है। बिहारी-सतसई में भी इस प्रकार की प्रचुर सामग्री है; वस्तुतः 'सतसई' के आधार पर तत्कालीन समाज का एक सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

चतुर्थ वर्ग में बिहारी के दोहे हैं, जिनसे ध्वनि तो ग्रहण नहीं होती; परन्तु स्वकीय ज्ञान का आरोप कवि की शब्दावली पर किया जाता है। उदाहरण के लिए :—

घाम घरीक निवारियै, कलित, ललित, अलि-पुंज ।

जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज ॥ १२७ ॥

इस दोहे में 'कलित' से 'कालिकट', 'ललित' से 'ललितपुर', और 'अलि' से 'अलीगढ़' के संकेत केवल उसी समय ग्रहण किये जा सकते हैं जब भावक को यह ज्ञात हो कि सर टॉमस रो का भारत में प्रथम आगमन क्रमशः कालिकट, ललितपुर, अलीगढ़ तथा आगरा नगरों में हुआ था। इस सूक्ष्म ऐतिहासिक ज्ञान के बिना इस दोहे से उक्त संकेत सम्भव नहीं। कवि का यह अभीष्ट था या नहीं—इसके पक्ष-विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता; यहाँ भावयित्री प्रतिभा कारयित्री प्रतिभा पर सवार हो गई और उससे मनमाना अर्थ निकालने लगी। इस दोहे से तृतीय वर्ग का अर्थ भी लें तो फिर उत्तरार्द्ध के चरणों से यमुनातटवर्ती आगरा नगरी में नूरजहाँ के प्रेम-पाश में आबद्ध शासक जहाँगीर का संकेत स्वतः एवं ध्वनित हो जाता है—राधा के साथ केलिपर श्याम हुए या नूरजहाँ के प्रेमासव में छका हुआ जहाँगीर, काव्य की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं। यदि कोई सज्जन 'घाम घरीक निवारियै' से संवत् का संकेत निकाल बैठे तो आश्चर्य न होगा, क्योंकि घाम (=दिन) की घरीक (=घड़ियाँ) का अर्थ

३२ होगा, और सर टॉमस रो इस दोहे की रचना (लगभग संवत् १७०४) से ३२ वर्ष पूर्व ही भारत आया था ।

इसी प्रकार राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध की अकबर की नीति को लक्ष्य करके—

राधा हरि, हरि राधिका, बनि आये संकेत ।

दंपति रति-विपरीत-सुख, सहज सुरतहू लेत ॥ १५५ ॥

इस दोहे से यह संकेत ग्रहण होता है कि बादशाह के 'संकेत' से राजघराने की कन्या (राधा) का बादशाह (हरि) से और फिर आमेर के मानसिंह (हरि) का शाही घराने की कन्या (राधिका) से विवाह (रति) और फिर उसका बदला (विपरीत) हुआ, फलतः भोग-सुख के साथ-साथ अकबर ने 'सहज' ही भगवान्दास और मानसिंह की सहायता से सूरत नगर को भी जीत लिया । अधिक ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि पहले बादशाह ने राजपूत-कन्या को अपने लिए पाया था फिर पीछे राजपूत को शाही घराने की सामान्य कन्या ('राधिका', 'राधा' नहीं) दिलवाई थी शायद हिन्दुओं के विरोध को शान्त करने के लिए ।

श्री खेतान जी ने अपनी पुस्तक में इतिहास को उपर्युक्त चार वर्गों में से अन्तिम दो वर्गों की सामग्री से लाभ उठाया है और उनमें भी विशेषतः अन्तिम वर्ग की सामग्री से ही; क्योंकि प्रथम दो वर्गों की सामग्री साहित्यिकों को अविदित नहीं है । लेखक की दृष्टि में मुख्यतः दो विषय रहे हैं—सामाजिक जीवन तथा इतिहास और क्योंकि वे स्वयं कृष्ण-भक्त हैं तथा 'सतसई' भी कृष्ण-भक्ति-परम्परा में है इसलिए सामाजिक जीवन की व्याख्या का संबल भक्ति ही विशेषतः रही है ।

जिस सामग्री को हमने चतुर्थ वर्ग में स्थान दिया है वह आलोचक की प्रतिभा तथा परिश्रम का ही फल है, प्रसाद गुणपूर्ण दोहों का प्रहेलिका बनाकर उनसे अभीष्ट अर्थ उगलवाना आत्मविश्वास तथा आचार्यत्व की चरम सीमा है । बिहारी का अभीष्ट क्या नहीं था—यह नहीं कहा जा सकता; अपने

जीवन-काल में सभी प्रकार की सुविधाओं को प्राप्त करके भी केवल ७०० दोहे लिखने से ही उनकी कारीगरी का अनुमान लगाया जा सकता है; जिस दोहे को एक सप्ताह में गढ़ा जाता होगा उसकी चमक निस्संदिग्ध है; और जब कृतकाव्य की परम्परा से बिहारी अपरिचित न थे तो उनके दोहों में अनेक शास्त्रों का आच्छन्न रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं। फिर भी यह विद्वत्ता-पूर्ण कष्टार्थ सर्वपाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें हृदय को उतना आहार नहीं मिलता जितना कि मस्तिष्क को। तृतीय वर्ग की सामग्री अवश्य सभी को स्वीकार्य होगी, क्योंकि उसमें बिहारी के युग का ही चित्र मिलता है, बिहारी की दबी वाणी संकेतों द्वारा ही उस समाज का चित्रण कर गई है। यदि इस 'सतसई' में भारतीय इतिहास की कष्टमूल खोज के स्थान पर तत्कालीन इतिहास के ध्वनिमूल संकेत ही ग्रहण किये जायें तो हिन्दी-साहित्य को अप्राप्त सांस्कृतिक इतिहास सहज ही सुलभ हो सकता है।

‘कविप्रिया’ की परम्परा

सं० १६५८ में आचार्य कवि केशवदास ने ‘रामचन्द्रिका’ के अनन्तर ‘कविप्रिया’ नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के नाम से ही आचार्य की प्रवृत्ति का कुछ आभास मिलता है। वामन ने अपने ‘काव्यालंकारसूत्रों’ पर स्वयं ही टीका लिखा थी, जिसका नाम ‘कविप्रिया’^१ था। सम्भवतः पुराने आचार्यों का निरन्तर अध्ययन करते हुए केशव को यह नाम बहुत पसंद आया होगा। अन्तःप्रमाण के आधार पर यह सिद्ध है कि इस पुस्तक का उद्देश्य किसी नवीन सम्प्रदाय का प्रचलन नहीं; प्रत्युत कवियशःप्रार्थियों को काव्य का पुराना राजमार्ग दिखाना ही है। केशव संस्कृत-भाषा तथा साहित्य के भी अपूर्व पण्डित थे, सनाढ्य ब्राह्मण तथा प्रतिष्ठित राजगुरु होने से उनमें

१. प्रणम्य परमंज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।

काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिविधीयते ॥

स्वाभिमान भी चरम कोटि का था, एक स्थान पर वे अपने को कुलकलंक^१ बतलाते हैं क्योंकि वे 'भाषा' में पुस्तकें लिखते थे जबकि उनके कुटुम्ब के दास-दासी भी संस्कृत बोलते थे। संस्कृत के प्रति इतना साधारण मोह तथा 'भाषा' के काव्य-हीनता को मन में पालते हुए भी उस परिदृष्टि ने अपने ग्रन्थ 'भाषा' में लिखे—यह मनोविज्ञान की एक गुथी है, जिसके सुलझाने का एक संकेत 'कविप्रिया' में मिलता है। ओरछा-नरेश की सभा में अनेक गुणी तथा कला-विद् थे, 'षट् पातुर परम प्रसिद्ध' भी थीं। इन षट् पातुरों में से प्रवीणराय नाम की वेश्या सत्यभामा^२ के समान पतिव्रता तथा अनुरक्ता थी, उसमें अन्यो से एक विशेषता यह थी कि वह कविता^३ कर लेती थी और इस कविता-क्षेत्र में वह केशवदास की प्रिय शिष्या थी। उस स्वाभिमानी रसिक ने पात्रत्व की परीक्षा करके उस प्रवीणराय को काव्य की शिक्षा दी और, कदाचित् इसलिए कि उसको संस्कृत के माध्यम से काव्याभ्यास नहीं कराया जा सकता था, संस्कृत के प्राचीन तथा प्रतिष्ठित ग्रन्थों की छाया से हिन्दी-ग्रन्थों की रचना की—कवि-शिक्षा का मुख्य ग्रन्थ 'कविप्रिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजमार्ग बनने से यह पुस्तक दूसरे^४ अभ्यासियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई।

केशव का मुख्य उद्देश्य (रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका तथा कविप्रिया, तीनों ही ग्रन्थों में) प्रवीणराय की शिक्षा था, और प्रासंगिक रूप से हिन्दी के माध्यम से काव्य-कला सीखने वालों को भी राजमार्ग मिला, केशव के प्रयत्न से 'भाषा' का एक स्थायी द्वार खुल गया। केशवदास हिन्दी के प्रथम आचार्य या आलोचक हैं, संस्कृत के मोह को छोड़कर, कर्तव्यवशादेव सही, भाषा में

१. भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास ।

भाषा कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास ॥२॥१७॥

२. सत्या रायप्रवीन युत, सुरत रु सुरतरु गेह ।

इन्द्रजीत तासों बँधे, केशवदास सनेह ॥१॥४६॥

३. तिनमें करति कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन ॥१॥२६॥

४. समझें बाला-बालकहुँ, वर्णन-पंथ अगाध ।

कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥३॥१॥

सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन केशव ने ही प्रारम्भ किया, शताब्दियों तक भाषा के आचार्य उनके पाण्डित्य में डूबते-तैरते रहे हैं। गद्य की प्रतिष्ठा से पूर्व जब 'भाषा' ही शिक्षा का माध्यम थी केशवदास को इतना महान् माना जाता था कि उनके ग्रन्थों की व्याख्या ही विद्वत्ता का प्रमाण-पत्र था। आश्चर्य की बात है कि लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों की इस दीर्घ अवधि में एक भी आचार्य केशव के गौरव तक उछलने का प्रयत्न नहीं कर सका। अंग्रेज़ी ज़माने में जब पाश्चात्य विद्वान् आजीवन श्रम करते हुए संस्कृत के गूढ़ से गूढ़ ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके रहस्य को अंग्रेज़ी माध्यम से भारतीयों के लिए सुगम बना देते थे उस समय 'भाषा' के इन विद्वन्निक्षेपों के प्रति हिन्दी के आलोचक सानुराग नहीं रहे; वे केशवदास की रचनाओं को प्रच्छन्न रूप में दफना चुके। कुछ आलोचक उनकी रचनाओं को नारिकेल के समान बहिःकठोर मानते हुए भी अन्तर्मधुर नहीं कहते, कुछ लोग उनको एक तूफ़ान मानकर वहीं शान्त समझ लेते हैं; ऐसा तो अनेक समझते होंगे कि केशव ने किसी धुन में आकर प्राचीन आचार्यों का अनुकरण किया इसलिए उनका मार्ग उन्हीं तक रहा। हमारा नम्र निवेदन है कि इतने बड़े आचार्य के विषय में इतना अक्राट्य फतवा नहीं दिया जा सकता।

केशवदास के आचार्यत्व का चरम विकास 'कविप्रिया' में हुआ है। अनेक आचार्य उनकी बातों का खण्डन-मण्डन करते रहे, किसी ने उनका आंशिक अनुकरण किया तो किसी ने पूर्ण; श्रीपति ने दोषों के उदाहरण केशव से लिये तो सरदार कवि तथा हरिचरणदास ने 'कविप्रिया' पर बहुत ही प्रामाणिक तथा विद्वत्पूर्ण टीकाएँ लिखीं, देव कवि ने तो केवल 'कवि-प्रिया' को पढ़कर ही उमंग में 'भावविलास' की रचना कर डाली; बेनी-प्रवीन का 'नानाराव-प्रकाश' तथा गुरदीन पाण्डे का 'बाग मनोहर' भी 'कविप्रिया' की शैली पर ही रचे हुए प्रसिद्ध तथा विशाल ग्रन्थ हैं। संभव है इन पुस्तकों के प्रकाशन तथा अन्य ग्रन्थों की खोज से विद्वान् 'कविप्रिया' और केशवदास के महत्त्व को कुछ अधिक समझ सकें।

वनिता के १६ श्रृंगार माने गये हैं, कविप्रिया के भी १६ प्रभाव हैं । प्रथम दो प्रभावों में ग्रन्थ की भूमिका है; तृतीय से षोडश प्रभाव तक विषय-विस्तार है । वर्ण्य-विषय को केशव ने 'वर्णन-पंथ अगाध' नाम दिया है :—

“समझैं बाला-बालकहु, वर्णन-पंथ अगाध ॥ ३ ॥ १॥ ”

“वरणन-पंथ बताय, मैं दीन्हौं बुधि अनुसार ॥ १६ । ८६ ”

इस पुस्तक की प्रतिज्ञा से सहसा कन्नड़ के ग्रन्थ 'कवि-राजमार्ग' का स्मरण हो आता है । प्राचीन परम्परा के अनुसार आचार्य-कर्म के दो अंग थे—काव्य-रचना और काव्य-परीक्षा; और दोनों प्रकार के शिष्य आचार्य से शिक्षा लिया करते थे । आगे चलकर काव्य-रचना की शिक्षा या कवि-शिक्षा की ओर से आचार्य उदासीन होते गए और काव्य-परीक्षा मात्र को अपने कर्तव्य की पूर्णता मान बैठे । आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' के प्रारंभ में लिखा है कि साधु काव्य की रचना से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में विचक्षणता, कलाओं में प्रीति और कीर्ति^१ की प्राप्ति होती है । आगे चलकर सर्वत्र आचार्य की दृष्टि में 'सुकवि' रहा है—'काव्य ऐसा होना चाहिए' के स्थान पर सर्वत्र 'काव्य ऐसा बनाना चाहिए' का ही प्रयोग है । संस्कृत के नवीन आचार्य मम्मट आदि भी 'काव्य-कारण' की प्रारम्भ में ही व्याख्या कर देते हैं । यदि मम्मट की ही बात मानें तो काव्य के तीन समुदित^२ हेतु हैं—शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास; शक्ति संस्कारजन्य है, इसे प्रतिभा कहते हैं, इसके बिना तो काव्य-रचना हो ही नहीं सकती; निपुणता शास्त्र, काव्य, इतिहास आदि के विमर्शन से आती है; और अभ्यास किसी आचार्य की सहायता से संभव है । शक्ति या प्रतिभा^३ ईश्वरदत्त है, परन्तु निपुणता तथा अभ्यास अर्ज्य हैं;

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु-काव्य-निबन्धनम् ॥१२॥

२. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञ-शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥१३॥

३. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥१४॥ (भामह)

निपुणता का एक ही उपाय है अनेक काव्य, इतिहास, शास्त्र आदि का अध्ययन—इसी बहुमुखी अध्ययन के कारण कवि का उत्तरदायित्व^१ बहुत भारी माना गया है। यहाँ शास्त्र में काव्य शास्त्र भी सम्मिलित है, आचार्यों ने बहुत कुछ इसी के निदर्शन-स्वरूप लिखा है। अभ्यास तो गुरु के निकट जाकर ही सम्भव है। अस्तु, प्राचीन आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्र की उचित शिक्षा देकर निपुणता में विस्तार तथा अभ्यास में सहायता करना था; कविप्रिया-कार का भी यही उद्देश्य है—‘वर्णन-पथ अगाध’।

कवि-कर्म अत्यंत कठिन है। सुवर्ण की शोध में कवि इतना व्यस्त रहता है कि उसको दिन में एकान्तवास पसंद है और रात्रि में उसको नींद नहीं आती; एक-एक चरण के नियोजन में उसको चिन्तन^२ करना पड़ता है। इस तल्लीनता तथा एकाग्रता का कारण है काव्य को सुन्दर बनाने का प्रयत्न अथवा रचना को सुन्दर बनाने के लिए साधना, क्योंकि जो रचना सुन्दर है वही तो काव्य है, जो सुन्दर नहीं है वह ‘काव्य’ संज्ञा की अधिकारिणी नहीं। वामन के शब्दों में काव्य-सौंदर्य का नाम अलंकार है और कोई भी रचना अलंकार के कारण ही काव्य नाम ग्रहण करके सहृदयों को ग्राह्य^३ बनती है। जब सौंदर्यहीन रचना काव्य नहीं तो सौंदर्य के विपरीत दोष से युक्त रचना तो रचयिता का कलंक^४ है; अतः कवि को उचित है कि वह सौंदर्य साधना में जितना सावधान रहता है उससे अधिक सतर्क वह दोष-निवारण^५ में हो। इस प्रकार कवि-कर्म का अभिप्राय हुआ सौंदर्य-साधना तथा दोष-निवारण, प्रथम भावात्मक पक्ष है दूसरा अभावात्मक, प्रथम विधि (एकट) है दूसरा निषेध (ओमिशन); वस्तुतः कवि-कौशल तो प्रथम अंग सौंदर्य-साधना में ही

१. अहो भारः महान् कवेः ।

२. चरण धरत चित्त करत, नोंद न भावत शोर ।

सुबरण को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर ॥३॥

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः ॥

४. विलक्षणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ।१।११। (भामह)

५. प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त ।३।६॥

भलकता है, दूसरा तो बचाव-मात्र है। पुराने आचार्य इसी सौंदर्य-साधना^१ का मार्ग प्रदर्शित किया करते थे; परन्तु धीरे-धीरे नवीन आचार्य कवि-शिक्षा को भूलने लगे और शिष्य को कविता करने की विधि न बतलाकर दूसरे की कविता का परीक्षण सिखाने में जुट गए; अतः ऐसी समस्याएँ उठ खड़ी हुई कि 'काव्य की आत्मा क्या है', 'काव्य में किस विशेषता का कितना महत्त्व है' आदि; यह नवीन प्रवृत्ति उस युग का स्वकीय गुण है; काव्यशास्त्र के समान दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि में भी यही रचना-मूलक के स्थान पर तर्क-मूलक प्रवृत्ति दृग्गत होती है। फिर भी कवि-कर्म की नितान्त उपेक्षा न हो सकी; सौंदर्य या अलंकार तथा दोष की विवेचना के बिना कोई भी शास्त्र-ग्रन्थ पूर्ण नहीं हुआ। दोष का तो लगभग उतना ही विचार होता रहा जितना कि प्राचीन सरणि में था, परन्तु अलंकार के दो अर्थ हो गए, व्यापक तथा संकीर्ण, और व्यापक अर्थ अर्थात् सौंदर्य-साधना के लिए नये आचार्य 'अलंकार' शब्द का प्रयोग कम करते थे, उन्होंने 'अलंकार' को 'सौंदर्य की एक विधा-मात्र' मान लिया। यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन पद्धति के स्मृति-रूप 'दोष' शब्द का व्यापक अर्थ लेते हुए इसके अनेक भेद पद-दोष, वाक्य-दोष, रस-दोष, अलंकार-दोष, अर्थ-दोष आदि किये गये; परन्तु अलंकार भणिति को शैली-मात्र रह गया, उसको व्यापक ही रखकर पदालंकार, वाक्यालंकार रसालंकार, गुणालंकार आदि भेद आचार्यों ने न किये। अलंकार और दोष के प्रति यह द्विधात्मक प्रवृत्ति इस बात की सूचक है कि काव्यशास्त्र का विकास किसी एक नियम को लेकर नहीं हुआ, जैसा चल पड़ा उसी को आचार्यों ने शास्त्रीय रूप दे दिया, अन्यथा 'अलंकार' और 'दोष' दो सहचरों के प्रति काव्यशास्त्र का दो प्रकार का व्यवहार न होता। मानव-समाज में दूसरे शास्त्रों की भी यही गति है।

अस्तु, कवि-कर्म का अर्थ है सौन्दर्य-साधन तथा दोष-निवारण। दोष सामान्यतः ५ प्रकार के हैं और उनके ३ वर्ग हैं—साध्य, दुःसाध्य तथा असाध्य।

१. पुराने आचार्यों के ग्रन्थ इसी हेतु अलंकार-शब्दान्त नाम वाले हैं, यथा काव्यालंकार, काव्यालंकार-सार, काव्यालंकार-सूत्र आदि।

नग्नत्व साध्य है ; अंधत्व, बधिरत्व तथा पंगुत्व दुःसाध्य हैं; और मृतकत्व असाध्य है। जो साध्य है उसकी ओर ध्यान न देना अकीर्तिकर है, अतः नग्नत्व दोष का निवारण कवि का आदि कर्तव्य है। केशव ने भूषणहीन काव्य को नग्न माना है; यदि कोई शास्त्र से परिचित है तो रचना कर सकता है परन्तु उसकी रचना 'काव्य' पद तभी प्राप्त कर सकती है जब उसमें सौन्दर्य या अलंकार की समुचित योजना हो। अतः सौन्दर्य-साधन और मुख्य दोष-निवारण दोनों का नाम अलंकार-योजना है।

अलंकार के अन्तर्गत अखिल सृष्टि में से वर्ण्य-वस्तु का चुनाव तथा वर्ण्य-वस्तु की वर्णन शैली दोनों आ जाते हैं; जो विशेषता 'कथा' को कथानक बनाती है वही अलंकार का प्रथम भेद है, इसी को प्रतिभोत्थिता कला कह सकते हैं; दूसरा भेद आज भी संकीर्ण अर्थ में 'अलंकार' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में वर्ण्य-वस्तु तथा वर्णन-प्रणाली दोनों का नाम 'अलंकार' था, नव्य आचार्यों ने कवि-शिक्षा की अवहेलना करके वर्ण्य-वस्तु को काव्यशास्त्र से उखाड़ फेंका और वर्णन-प्रणाली-मात्र को 'अलंकार' नाम से वे अभिहित करने लगे। 'कविप्रिया' में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में है—'वर्ण्य-वस्तु' का नाम 'सामान्यालंकार' है तथा 'वर्णन-प्रणाली' का 'विशिष्टालंकार'^२। तृतीय प्रभाव में दोष-वर्णन करके पंचम प्रभाव में काव्यालंकार-वर्णन है; बीच का चतुर्थ प्रभाव 'कवि-भेद' तथा 'कवि-रीति' का परिचय देता है; दोनों ही बातें काव्य-ज्ञान के लिए अनिवार्य हैं। केशवदास की यह विशेषता है कि उनकी दृष्टि में पूरा साहित्यशास्त्र था, वे 'अलंकार' शब्द के

१. कविन कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप।

एक कहै साधारणै, एक विशिष्ट सरूप ॥१२॥

२. 'सामान्यालंकार' को काव्य का परिधान तथा विशिष्टालंकार को भूषण समझना चाहिए, भूषण का मूल्य अधिक है परन्तु महत्त्व परिधान पर ही निर्भर है अन्यथा कविता-वनिता (=रचना) अपने नग्नत्व में अरुचिकर हो जायगी।

प्राच्य तथा नव्य दोनों अर्थों के प्रति जागरूक रहकर उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हैं ।

सामान्यालंकार 'कविप्रिया' की एक पुष्ट विशेषता है । वर्णन में रंग तथा रूप का ध्यान रखा जाता है और वर्णन या तो समाज का होगा या प्रकृति का । अतः सामान्यालंकार के चार भेद हो गए । वर्ण (रंग), वर्ण्य (रूप), भू-श्री (प्रकृति), तथा राज्यश्री (समाज); 'निपुणता का अर्थ इन चारों मार्गों का सम्यक् परिचय हो है । विज्ञान के अनुसार जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो हमारा ध्यान पहिले उसके आकार या रूप पर जाता है फिर उसके रंग पर, परन्तु काव्य-जगत् में दूसरा नियम है; यहाँ मन को प्रथम प्रभावित करने वाली विशेषता आदिवर्ण्य है, चन्द्र से मुख की तुलना करते हुए दोनों के आकार पर शायद ही किसी कवि का ध्यान गया हो । अस्तु केशव ने पहिले 'वर्ण' का वर्णन किया है—कविता में किसका कौनसा रंग माना जाता है, 'कविप्रिया' के पंचम प्रभाव में इसीलिए सात रंगों का परिचय है । षष्ठ प्रभाव में वर्ण्य-वस्तु की आकृति और गुण का नियम बताया गया है । सप्तम में भूतल के प्राकृतिक दृश्यों आदि की और अष्टम में राजा, रानी आदि समाज के भूषणों की मर्यादा वर्णित है । इस प्रकार आधे ग्रंथ में सामान्यालंकार हैं और शेष आधे में विशिष्टालंकार । विशिष्टालंकार के प्रसंग में भी (दे० आक्षेप) आचार्य का ध्यान कवि-शिक्षा पर रहा है, वे यही बतलाते हैं कि इतने भूषणों से सुसज्जित रचना काव्य-पद की अधिकारिणी होगी ।

'कविप्रिया' को विद्वत्समाज में दोनों कारणों से प्रतिष्ठा मिली—सामान्यालंकार के कारण भी तथा विशिष्टालंकार के लिए भी, और इसका दोनों ही क्षेत्रों में अनुकरण भी हुआ । विशिष्टालंकार का सबसे सफल अनुकरण देवकवि के 'भावविलास 'में है' १६ वर्ष को आयु में युवक देवदत्त ने केवल 'कविप्रिया' को पढ़ा था, फलतः सामान्यालंकार को पढ़कर वे कवि बन गये और विशिष्टालंकार को पढ़कर आचार्य—हिन्दी का कोई भी अन्य ग्रंथ उभय-यात्मिका प्रेरणा में समर्थ नहीं रहा । बिना मनन किए ही केशव का अनुकरण

करने से देवकवि की पुस्तक बड़ी शिथिल बनी रही और आगे चलकर उनको अपनी अलंकारविषयक मान्यताओं में घना परिवर्तन करना पड़ा^१ (दे० — ‘काव्य-रसायन’) । ‘कविप्रिया’ का षोडश प्रभाव ‘चित्रालंकार’ प्रकरण हिन्दी में चित्र-विषयक अन्तिम शब्द था, कोई भी आचार्य उनसे आगे नहीं बढ़ा, पीछे तो सभी हैं; इस प्रकरण को समझना भी लोहे के चने चवाना रहा है । उपमा प्रकरण का अनेक आचार्यों में अनुकरण है, श्लेष के लिए केशव सदा अद्वितीय रहेंगे ।

विशिष्टालंकार पर तो दूसरे ‘अलंकृती’ भी लिखते रहे, परन्तु सामान्यालंकार-प्रकरण का साहस कम लोगों में था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार ‘कविप्रिया’ का अनुकरण गुरदीन पांडे ने अपने ‘बाग-मनोहर’ (सं० १८६०) तथा बेनीप्रवीन ने अपने ‘नानारावप्रकाश’ (सं० १८७० के लगभग) में किया है । परन्तु पदुमनदास की ‘काव्यमंजरी’ (सं० १७४१) भी हमारे देखने में आई है, जिसमें ‘कविप्रिया’ का अनुकरण है ।

संवत् के अनुसार—

कविप्रिया—सं० १६५८

काव्यमंजरी—सं० १७४१

बागमनोहर—सं० १८६०

नानारावप्रकाश—सं० १८७० के लगभग

देखने से ऐसा लगता है कि एक-एक शताब्दी के रिक्त स्थान को भरने के लिए ग्रन्थों की खोज अनिवार्य है । यह संभव नहीं कि सौ-सौ वर्ष बाद ही ‘कविप्रिया’ के अनुकरण पर ग्रन्थ-रचना होती रही हो । कम से कम इतना निश्चय है कि सं० १६०० के अन्त तक तो ‘कविप्रिया’ की परम्परा चलती रही है, भले ही आज उसका अधिकांश साहित्य तमसावृत्त हो गया हो ।

‘काव्यमंजरी’ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है, इसका प्रकाशन सं० १६५४ में लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से हुआ था । कुलपति ने ‘रस-रहस्य’ सं० १७२७ में लिखा; देवदत्त ने, ‘भावविलास’ १७४६ में;

श्रीपति ने, 'काव्यसरोज' १७७७ में, और श्री दलेलसिंह के आश्रित कर्ण कायस्थ पदुमनदास ने 'काव्यमंजरी' की रचना सं० १७४१ में की थी। 'काव्यमंजरी' में १४ कलिकाएँ हैं और कुल ७१६ कवित्त-दोहे आदि छन्द हैं।

वर्ण्य विषय निम्नलिखित हैं :—

- प्रथम कलिका — कविभेद, कविरीति, वर्ण-नियम
- द्वितीय „ — वर्णक-नियम प्रत्यंग वर्णन (६२ छन्द)
- तृतीय „ — वर्णक-नियम पुरुष-अंग-वर्णन (२० छन्द)
- चतुर्थ „ — गतादि वर्णन (६२ छन्द)
- पंचम „ — अंशकार आदि वर्णन (२५ छन्द)
- षष्ठ „ — एकादि संख्या कथन (६१ छन्द)
- सप्तम „ — कवित्त-लक्षण, उक्ति-वर्णन (१४ छन्द)
- अष्टम „ — दाषवर्णन (२० छन्द)
- नवम „ — गुणवर्णन (३० छन्द)
- दशम „ — शब्दालंकार वर्णन (३८ छन्द)
- एकादश „ — अर्थालंकार वर्णन (६३ छन्द)
- द्वादश „ — भावादि वर्णन (१२३ छन्द)
- त्रयोदश „ — रस, नायक-नायिका वर्णन (७१ छन्द)
- चतुर्दश „ — नवरस वर्णन (४० छन्द)

'काव्य-मंजरी' में 'कविप्रिया' का अनुवाक्य नहीं प्रत्युत परम्परा का निर्वाह है। प्रथम कलिका में 'कविप्रिया' के चतुर्थ तथा पंचम प्रभावों की सामग्री है। केशव ने कवियों के ३ भेद किये हैं : उत्तम, मध्यम तथा अधम। पदुमनदास ने 'अवम' को 'हीन' कहा है, कसौटी दोनों की एक ही है। केशव की 'कविरीति' यहाँ 'कविसम्प्रदाय' है, केशव ने इनके नाम नहीं दिये, परन्तु पदुमन ने 'अमृत निबंधन', 'व्यागसन', तथा 'नियम-परिमाण' नामों का संकेत किया है। तीसरे सम्प्रदाय का एक उदाहरण दोनों में समान है—

१. एकगल चालीस शत सत्रह संवत् जान ॥

२. कवित्त-दोहरनि सात सौ सोरह अधिक सोहाहि ॥

वर्णत देवन चरण तें, सिर तें मनुष गात ।४।११। (कविप्रिया)

देवनि पगतें परणिये, नर सिरतें सब ठाम ।१।३२। (काव्य-मंजरी)

केशव के समान पदुमन ने अलंकार के २ भेद स्वीकार किये हैं और चतुर्थ कलिका के अन्त में 'वर्णक रत्न सामान्यालंकार वर्णनो नाम चतुर्थ कलिका प्रकाशः' लिख दिया है; परन्तु वैसा वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। अस्तु प्रथम कलिका में ही श्वेत, कृशा, आरक्त तथा पीत वर्णों का वर्णन है; केशव के धूम्र नील का इन्हीं में अन्तर्भाव हो गया है।

द्वितीय कलिका में 'वर्णन-नियम-कथन' है जिसके अन्तर्गत नायिका के अंग-प्रत्यंग की वर्णन-प्रणाली तथा उसकी क्रियाओं का नियम समझाया गया है; इसी प्रकार तृतीय कलिका नायक के वर्णन का नियम बतलाती है। केशव में यह प्रकरण इस रूप में नहीं है, वे वस्तुओं की आकृति और गुण को वर्णक मानते थे, पदुमनदास पर सामयिक प्रभाव है—नायिका-भेद का। 'कविप्रिया' के षष्ठ प्रभाव की सामग्री तो 'काव्य-मंजरी' की षष्ठ कलिका में ही आई है। 'भूमि-श्री' तथा 'राज्य-श्री' जैसा वर्गीकरण 'काव्य-मंजरी' में नहीं है, प्रत्युत चतुर्थ कलिका में 'राजादिवर्णन' के साथ प्रकृति भी आ गई है, और पंचम कलिका में वयःसन्धि, अभिसार, संभोग, जलकेलि आदि के वर्णन के नियम हैं। 'कविप्रिया' और 'काव्यमंजरी' के अन्तिम ८ अध्याय सामान्यतर अलंकार में लगे हैं।

'काव्यमंजरी' के उत्तरार्द्ध में ध्यान देने की बात यह है कि कवि पर नव्य आचार्यों का भी प्रभाव है, उसने नव्य शैली पर ही काव्यलक्षण, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, भाव, रस आदि को अलग-अलग अध्याय दिये हैं। अन्तर यह है कि भाव रस आदि को दोषादि के बाद स्थान दिया है और शब्द-शक्ति आदि का विवेचन नहीं किया। इस प्रसंग में पदुमनदास मम्मट की अपेक्षा जयदेव के अधिक समीप हैं। प्रभाव-मिश्रण अद्भुत है। काव्य-लक्षण के उपरान्त रीति तथा उक्ति का प्रसंग है परन्तु उक्तियों के भेद न मम्मट के समान हैं न केशव के अनुकरण पर। दोष का महत्त्व दुण्डी की शब्दावली में प्रतिपादित है परन्तु ये दोष मम्मट के अनुसार वर्णित हैं। गुण-

वर्णन केशव ने नहीं किया परन्तु पदुमनदास ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' की छाया में इसको विस्तार से लिखा है।

'काव्य-मंजरी' में ८ शब्दालंकार तथा १४ अर्थालंकार हैं; अनेक अलंकारों का भेद रूप से अन्तर्भाव हो गया है। उपमा और रूपक के क्रमशः १० तथा ५ भेद हैं; शेष अलंकार हैं—उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव ('क्रम' के सहित), विरोधाभास साराकर्ष, दीपक, सङ्कोक्ति, अन्य देशत्व (विषम) विभावना तथा विशेषोक्ति। आचार्य ने इन अलंकारों को अनिवार्य तो नहीं माना परन्तु यह घोषणा की है कि उनके बिना कवि को उज्ज्वल कीर्ति नहीं प्राप्त होती। इस प्रसंग में भी 'सरस्वती कण्ठाभरण' सहायक रहा है। अन्त की तीन कलिकाएँ भाव, रस तथा नवरस में प्रयुक्त हुई हैं।

अस्तु 'कविप्रिया' से तुलना करते हुए 'काव्य-मंजरी' के विषय में सबसे प्रथम विशेषता तो यह लक्षित होती है कि इसमें भी संस्कृत के प्राच्य आचार्यों का अनुकरण है और कितनी ही बातों में 'कविप्रिया' के आदर्श का पालन है। इस आचार्य ने विषय का विभाजन १४ अध्यायों में किया है, केशव में भी भूमिका के २ अध्याय निकाल देने पर १४ प्रभाव ही शेष रह जाते हैं। केशव के समान ही पदुमनदास की दृष्टि कवि-शिक्षा पर उतनी ही रही है जितनी कि काव्य-परीक्षा पर, बल्कि नव्य आचार्यों या हिन्दी के अलंकारियों की तुलना में ये आचार्य काव्य-परीक्षा के सिद्धान्तों में अधिक सफल नहीं माने जा सकते। सामान्यालंकार पर शक्ति केन्द्रित करके जिस बात का वर्णन केशव ने किया था लगभग उसी का पदुमन ने, यद्यपि दोनों का क्रम एक ही नहीं है; केशव में जो वैज्ञानिकता है वह उस परम्परा के किसी और आचार्य में नहीं मिलती, कविप्रिया विशिष्टालंकार के प्रति भी उदार है, परन्तु 'काव्य-मंजरी' नहीं। रस, भाव आदि विषय केशव 'रसिकप्रिया' में बड़े विस्तार से लिख चुके थे इसलिए 'कविप्रिया' में उनकी आवश्यकता न समझी, परन्तु पदुमन को एक ही पुस्तक में सब कुछ लिखना था अतः

उत्तराद्ध' में विशिष्टालंकार के साथ-साथ भाव-रसादि का भी वर्णन उनको करना पड़ा ।

केशवदास का गौरव आलोचक के समक्ष उस समय साकार होता है जब वह उस परम्परा के दूसरे ग्रन्थों के साथ 'कविप्रिया' की तुलना करे । कवि-शिक्षा और काव्य-परीक्षा दोनों को आचार्य-कर्म मानने का साहस अधिक लोगों ने किया ही नहीं, जिन्होंने किया भी है उनको उतनी सफलता नहीं मिली जितनी केशवदास को । इसका एक कारण यह भी है कि केशवदास की 'रसिकप्रिया' तथा 'रामचन्द्रिका' 'कविप्रिया' की पूरक रूप में हैं, नायिका-भेद तथा छन्द का वर्णन वे उन पुस्तकों में कर चुके थे इसलिए 'कविप्रिया' उस जंजाल से बची रही, जबकि काव्य मंजरी-कार को रस तथा नायिका-भेद का उसी पुस्तक में वर्णन करना पड़ा और 'बागमनोहर' के लेखक ने पिंगल को भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया । केशव अधिक वैज्ञानिक, अधिक स्पष्ट तथा अधिक ग्राह्य हैं, कदाचित् इसलिए कि उनके ग्रन्थ एक शिष्या की शिक्षा के लिए रचे गए हैं । 'कविप्रिया' को पढ़ने से 'कवि-शिक्षा' का विषय जितना स्पष्ट हो जाता है उतना अन्य समान पुस्तकों के मनन से नहीं । संभव है केशव अधिक मौलिक न हों, संभव है वे नव्य आचार्यों को पसन्द न कर पाये हों, परन्तु आचार्य-कर्म में वे हिन्दी के सभी आचार्यों से अधिक पूर्ण तथा अधिक सफल हैं । 'कविप्रिया' केशवदास की कीर्ति की एक स्थायी निधि है जिसका मूल्य नवीन आलोक में वृद्धिमान् ही होता जायगा ।

— — —

हिन्दी के मंगलकाव्य

'मंगल' शब्द का अर्थ शुभ, कल्याणप्रद, अथवा श्रेयस्कर है, इसका प्रयोग महाभारत से ही उपलब्ध होने लगता है, संस्कृत साहित्य में 'मंगलगीत' 'मंगलाष्टक' आदि नाम भी हैं; पाली में 'महामंगल सुत्त' उन सात सूत्रों का नाम है जिन महामंगलकारी सामाजिक नियमों के अनिवार्य पालन का उपदेश भगवान् बुद्ध ने सर्वसामान्य को दिया था (दे० सुत्त निपात, महामंगल

सुत्त) । आधुनिक भाषाओं में से मंगल-नामधारी काव्यों का प्राचुर्य पूर्वी भारत की बंगभाषा में है ।

द्वादश-त्रयोदश शताब्दी में जब बंगाली-हृदय की 'सुकुमारता, भावाद्रता तथा पुरुषकारहीन अदृष्ट निर्भंगता' ने स्थायित्व प्राप्त कर लिया तो अध्यात्म एवं काव्य गुणोपेत मंगलकाव्यों के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति मिली । प्रारम्भ में ये मंगल-गीत थे जिनके गाने से गायक तथा श्रोता दोनों का कल्याण होता था, ये गीत आठ दिन से एक मास तक नियमपूर्वक गाये जाते थे, आगे चलकर ये क्षुद्राकार मंगल गीत ही बृहदाकार मंगलकाव्य बन गये ।^१ मंगलकाव्य मूलतः शाक्त थे; इनके इष्टदेव मनसा, चण्डी, गंगा, शीतला आदि स्त्री देवता हैं—बंगाली मंगलकाव्य मुख्यतः मनसादेवी तथा चण्डीदेवी की स्तुति तथा लीला-गान के लिए रचे गये हैं । अनुकरण पर धर्मठाकुर के मंगलगीत भी लिखे गए । जब वैशाख प्रभाव आया तो भक्तों ने 'चैतन्य मंगल' तथा 'अद्वैतमंगल' की भी रचना की; परन्तु परम्परा की दृष्टि से इन वैशाखमंगलों को मंगलकाव्य मानने में संकोच है । मंगलकाव्य के देवी-देवता लौकिक हैं, पौराणिक नहीं; इनमें लीला की अपेक्षा कहानी का तत्व अधिक होता है; इनके देवता अश्रद्धालु को दण्ड देने में जितने निर्भय हैं उतने भक्ति से पिघलने वाले भी हैं । समाज का सामान्य तथा निम्न वर्ग ही इनमें चित्रण का विषय बना है । सामान्यतः मंगलकाव्य को अब्राह्मण-परम्परा का ही साहित्य समझना चाहिए ।

बंगाली मंगलकाव्य की मुख्य धारा तो स्त्रीप्रधान, कहानी-रूप तथा लौकिक है, परन्तु धीरे-धीरे इसमें इतर तत्त्वों का भी मिश्रण होता गया है । लौकिक चण्डी के स्थान पर पौराणिक मार्कण्डेय चण्डी की अवतारणा से पौराणिक चण्डी मंगलकाव्य लिखा जाने लगा, जिसके प्राचीन कवि द्विज कमललोचन (१६०६-३० ई०) हैं, इनके काव्य का नाम 'चण्डिकाविजय'

१. डा० तमोनाशचन्द्र दास गुप्त : प्राचीन बांग्ला साहित्यर इतिहास, पृ० ८८-८९ ।

है; परन्तु भवानीप्रसाद कर (१६५० ई०) का काव्य 'दुर्गामंगल', नाम से ही विख्यात है। इस परम्परा के दूसरे कवियों ने भी 'चण्डीकाव्य' लिखा है। कविरंजन रामप्रसाद सेन का 'कलिकामंगल'; भारतचन्द्र का 'अन्नदा-मंगल'; अनेक कवियों के 'गंगामंगल', 'शीतलामंगल', 'षष्ठीमंगल', 'कमला-मंगल', 'सारदामंगल'; पुरुषदेवताप्रधान 'सूर्यमंगल', 'धर्ममंगल', 'कृष्ण-मंगल' (भागवत का अनुवाद) आदि में शाक्त-तत्त्व पर ब्राह्मण तत्त्व बली-यान् दिखाई देता है।

बंगाली मंगलकाव्य का सर्वोत्तम रूप 'मनसामंगल' में उपलब्ध होता है। पद्म-मृणाल पर शिव-वीर्य के पतन से पाताल में नागराज वासुकि के घर अलोकसामान्या रूपवती कन्या मनसा का जन्म हुआ, नागराज कन्या को शिवठाकुर के घर छोड़ने आये। शिवजी कन्या को चण्डीदेवी से छिपाकर घर लाना चाहते थे, अतः फूलों में छिपाकर जब मनसा को लाने लगे तो मार्ग में उसके लिए दूध की आवश्यकता हुई। जिस-जिस ने दूध देकर उस मनसा देवी की पूजा की उसका कल्याण हुआ, जिसने उपेक्षा की उसका नाश हुआ। परन्तु जब तक चम्पकनगर का चाँद सौदागर देवी की पूजा न करे तब तक मर्त्यलोक में उसका प्रचार न हो सकता था। कुछ दिन पीछे चण्डी के आघात से मनसा की एक आँख जाती रही, उसका पति जरत्कारु उसको त्यागकर चला गया, तब देवी जयन्तीनगर में रहने लगी। मनसा के रोष से एक विद्याधर का चम्पकनगर में चन्द्रधर (चाँद) नाम से जन्म हुआ, उसकी पत्नी का नाम सनका था, वह परम शैव था, परन्तु उसकी पत्नी छिपकर मनसा की पूजा कर लेती थी। चाँद को क्रोध आया, उसने देवी का घट तोड़ दिया, देवी ने उसके छः पुत्र मार दिये, सौदागर ने सर्वत्र देवी की पूजा बन्द करा दी, व्यापार में सौदागर को हानि हुई और परदेश में उसकी बड़ी दुर्दशा हुई। इस बीच श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध और उसकी पत्नी उषा का पुनर्जन्म हुआ, अनिरुद्ध चाँद का पुत्र लक्ष्मीन्द्र बना, उसका विवाह बेहुला के साथ हो गया। यत्न करने पर भी देवी के आदेश से लक्ष्मीन्द्र को कालनागिनी ने काट लिया, तब बेहुला पति के शव को लेकर नाना प्रकार से विलाप करती

हुई देवलोक में पहुँची । अन्त में शिव के आदेश से सबने मनसा की पूजा की और चाँद-सनका, लक्ष्मीन्द-बेहुला सुखपूर्वक रहने लगे । कथा भिन्न होते हुए भी मंगलकाव्य की यही रूपरेखा है कि किसी प्रतापशाली व्यक्ति को देवी की उपेक्षा से महाकष्ट की प्राप्ति हो फिर देवादेश से उस देवी की भक्ति करने पर सर्वसुख मिल जाय । कष्ट दे-देकर अपने सेवकों में भर्ती करने की यह कला अब्राह्मण है, इसमें दो सम्प्रदायों का संघर्ष स्पष्ट झलकता है, जनता को बहकाने के लिए इस प्रकार के गीतों की रचना सोद्देश्य थी, पीछे इनको काव्य-पद भी प्राप्त हुआ ।

मंगल-काव्य का बाह्य-रूप गीति-प्रधान है । नियमपूर्वक इन कहानियों का सुनाना और सुनना आवश्यक एवं मंगलमय था अतः भावावेश में देवी का मानो आदेश मानकर भक्त लोग इन गीतों की रचना करते थे :—

हाते लइया पत्र मसो, आपनि कलमे वसि, नाना छन्दे लिखेन कवित्व ।
जेह मन्त्र दिल दीक्षा, सेह मन्त्र करि शिखा, महामन्त्र जपि नित्य नित्य ।
देवी चण्डी महामाया, दिलेन चरण-झाया, आज्ञा दिलेन रचिते संगीत ॥
(कविकंकण चण्डी)

कथा के साथ-साथ हृदय का अनुराग भी प्रशंसनीय है, बीच-बीच के जय-घोष तथा प्रणति-नाद मनोहर हैं, काव्य का स्तर उच्च न होने पर भी तत्कालीन जनता के यथार्थ चित्र उपलब्ध होते हैं, भाषा सरल और विचार सामान्य हैं; परन्तु दुःख-सुख, प्रेम-वेदना आदि का वर्णन बड़ा द्रावक है; इन रचनाओं में अप्राकृत तत्त्व बहु मात्रा में प्राप्त हैं । अन्त में मंगलमय होने के कारण ये मंगलकाव्य हैं । कवि का विश्वास है कि इन गीतों से इहलोक तथा परलोक दोनों की सिद्धि होती है :—

जनमे जनमे दुर्गा तुया गुण गाई ।

अन्तकाले भवानी चरणे दिय ठाई ।

राम राम राम राम राम गुण गाम ।

चण्डिकारे चरणे मोर सहस्र प्रणाम ॥ (मंगलचण्डीर गीते) ।

सभी सम्प्रदायों में इष्टदेव के गुणकीर्त्तन की महिमा है; वैष्णव सम्प्रदाय

उसको लीला-गान या चरित-गान^१ कहता है, शाक्त सम्प्रदाय मंगल-गान, और नाथ-सम्प्रदाय आजकल उसको 'ज्योति'-गान के नाम से पुकारता है। सबका उद्देश्य श्रोताओं के मन में सोती हुई भक्ति को संगीत-कथा-संयोग से जगाकर उनको कल्याणकारी पथ पर ले जाना है। लौकिक (अपौराणिक) भक्ति-काव्य में पूर्वी मंगलकाव्य को एक विशेष स्थान प्राप्त है।

प्रायः मंगलकाव्य को पूर्वदेश की ही सम्पत्ति समझा जाता था; परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विद्वानों का ध्यान पश्चिमी मंगलकाव्यों (हिन्दी के मंगलकाव्यों) की ओर आकृष्ट किया है। पृथ्वीराज रासो के छियालीसवें समय 'विनयमंगल', सन्त कबीर के 'आदिमंगल', 'अनादिमंगल', और 'अगाधमंगल'^२; तुलसीदास के 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल', तथा नन्ददास के 'रुक्मिणीमंगल' की चर्चा द्विवेदी जी ने की है। 'विनयमंगल' में राजकुमारी संयोगिता को उसकी गुरु ब्राह्मणी ने वधू धर्म की शिक्षा दी है,^३ वधू-धर्म की मर्यादा अथवा 'विनय' से ही वधू का 'मंगल' होता है, इसलिए उसकी शिक्षा वाला काण्ड 'विनयकाण्ड' या 'विनयमंगल' कहलाया। 'आदिमंगल' में २५ दोहे हैं, यह प्रश्नोत्तर की शैली पर सृष्टि की मंगलमयी^४ उत्पत्ति का वर्णन करता है, ज्ञानमय होने के कारण यह मंगलमय कहा जा सकता है; यह मानना आवश्यक नहीं कि मंगल का सम्बन्ध विवाह तथा जन्म से ही है, हमारा प्रत्येक कार्य मंगल-कार्य है, प्रत्येक संस्कार के लिए मंगल-लग्न मंगल-गीत, तथा मांगलिक विधि अनिवार्य है—आज जन्म, मरण तथा विवाह तीन ही संस्कार शेष बचे-से हैं, परन्तु यज्ञोपवीत आदि भी उतने ही

१. तुलना कोजिए :—

कलप-कलप हरि-चरित सुहाये ।

भाँति अनेक मुनीसन गाये ॥ (रामचरित मानस)

२. अगाधमंगल, पद्य संख्या ३४, विषय योगाभ्यास का वर्णन ।

(हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३५८)

३. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० १०३ ।

४. मंगल-उत्पत्ति आदि का सुनियो संत सुजान ॥

मंगल-संस्कार हैं। द्विवेदी जी ने हिन्दी-मंगल-काव्य दो प्रकार के बतलाये हैं—विवाह-परक तथा 'उपखान-मूलक'; चन्दबरदाई, तुलसीदास तथा नन्ददास ने विवाह-परक मंगल-काव्य लिखे हैं, कबीर ने 'उपखान-मूलक'; परन्तु कबीर^१ के मंगल-प्रसंगों को मंगल-काव्य कहना अधिक उपयुक्त नहीं लगता, इनमें बंगाली उपाख्यानों के समान कहानियाँ भी नहीं मिलतीं, ये प्रसंग केवल 'मंगल-चर्चा' नाम के ही अधिकारी हैं। पंजाब तथा राजस्थान के राजकीय तथा वैयक्तिक पुस्तकालयों की छानबीन करने पर ऐसी अनेक पुस्तकों के मिलने की सम्भावना है, जिनका नाम 'मंगल'-शब्दान्त हो और जो, पूर्वी मंगल-काव्यों के समानान्तर ही, पश्चिम प्रदेश की लुप्त परम्परा को पुनर्जीवित कर दें—यद्यपि उन पुस्तकों से हिन्दी-साहित्य में कोई श्रीवृद्धि न होगी।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में हमको २० मंगल-नामधारी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जो राजस्थान तथा पंजाब में भी इस प्रकार के तमसावृत्त साहित्य की संभावना को दृढ़तर करती हैं। विषय-वस्तु के

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'आदिमंगल' के रचयिता रीवा के महाराजा विश्वनाथसिंह हैं, कबीर नहीं।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४५; सं० २००८ का संस्करण)

२. गंगादास—कृष्णमंगल, नरहरि—रुक्मिणीमंगल, नन्ददास—रुक्मिणीमंगल, सूरदास—राधामंगल, वल्लभदास—रसिकमंगल, तुलसीदास—जानकीमंगल, अम्बरदास—कृष्णमंगल, विष्णुदास—रुक्मिणीमंगल, रामलला—रुक्मिणीमंगल, मेहरचन्द—रुक्मिणीमंगल, उदय—रुक्मिणीमंगल, गुमानकवि—रुक्मिणीमंगल, भगवान—रुक्मिणीमंगल, तुलसीदास—शबरीमंगल, पद्मदास—रुक्मिणीमंगल, विष्णुदास मथुरावासी—रुक्मिणीमंगल, विष्णुपुरी—रुक्मिणीमंगल, हीरामणि—रुक्मिणीमंगल, रामराय—रुक्मिणीमंगल।

आधार पर इनको ४ वर्गों में रखा जा सकता है :—

(१) रुक्मिणीमंगल	१३ प्रतियाँ
(२) कृष्णमंगल	२ प्रतियाँ
रसिकमंगल	१ प्रति
राधामंगल	१ प्रति
(३) शबरीमंगल	१ प्रति
(४) जानकीमंगल	२ प्रतियाँ

इन २० पुस्तकों में तुलसीदास और नन्ददास के प्रसिद्ध मंगलकाव्य सम्मिलित हैं, और तुलसीदास के नाम से 'शबरीमंगल', तथा सूरदास के नाम से 'राधामंगल' भी रचित मिलते हैं। पद्मदास की रचना के दो नाम हैं—'रुक्मिणी-मंगल' तथा 'रुक्मिणी ब्याहलो', इससे यह अनुमान लगता है कि 'राधामंगल' तथा 'ब्याहलो'^१ (राधाब्याहलो) एक ही कृति के दो नाम हैं—उसके रचयिता कोई भी सूरदास हों। मंगलकाव्य का राजस्थानी नाम 'ब्याहलो'^२ भी रहा होगा, संभवतः १६ संस्कारों में से महत्त्वपूर्ण विवाह को निर्विघ्न-सम्पन्न अतः मंगलमय मानकर प्रचलित। भाषा की दृष्टि से देखें तो अवधी, राजस्थानी तथा ब्रज तीनों का प्रयोग है, कुछ काव्यों में संस्कृत-निष्ठ ब्रजभाषा है तो कुछ में चलती हुई; बाहरी (विशेषतः खड़ीबोली का) उड़ता हुआ प्रभाव कुछ काव्यों में प्राप्त होता है। छन्द की दृष्टि से साहित्यिक छन्द तथा राग दोनों ही उपलब्ध हैं, दोहा भी है तथा गेय छन्द भी। काव्य-गुण इन रचनाओं में अल्प ही हैं क्योंकि इनकी रचना कवित्व के लिए नहीं हुई, इनके रचयिता कवि थे भी नहीं। यह असम्भव नहीं कि पुस्तक पर जिसका नाम है वह रचयिता न होकर लिपिकार मात्र ही हो; उसकी योग्यता

१. सूरसागर के रचयिता सूरदास की एक रचना, विषय विवाह पद्य संख्या २१ (हि० सा० का आ० इतिहास, पृष्ठ ७५०)।

२. 'ब्याहलो' की रचना ध्रुवदास ने भी की है (हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ १६४)।

का अनुमान 'विष्णुदास मथुरा के लाला' के निम्नलिखित श्लोक से, स्थाली-पुलाक-न्याय से, लगाया जा सकता है :—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा, तादृशी लिखती मया ।

यदि शुद्धं अशुद्धं वा, मया दोषो न दीयते ॥

एक ओर नाना-पुराण-निगमागम के परिणित 'जानकीमंगल' के रचयिता तुलसीदास और दूसरी ओर 'मथुरा के लाला' लिपिकार विष्णुदास; दो विषम कोटियों को मंगलकाव्य ने एक ही घेरे में ला पटका । इन हस्तलिखित मंगल-काव्यों के विषय में एक बात और कि ये संख्या में २० होते हुए भी मात्रा में उतने नहीं हैं, खंडित तथा अपूर्ण कृतियों के विषय में यह मैं नहीं कह सकता कि वे किसी दूसरी प्रति की ही अशुद्ध प्रतिलिपि नहीं हैं; तुलसी के नाम से दो 'जानकीमंगल' मिलते हैं, विष्णुदास के नाम पर दो 'रुक्मिणीमंगल' हैं । इन पुस्तकों का रचना-काल १७वीं शती के प्रारम्भ से १९वीं शती के अन्त तक है, और भाषा के आधार पर यह अनुमान है कि इनकी सृष्टि पश्चिम प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों में हुई होगी ।

'रुक्मिणीमंगल' के पेटेंट लेखक तो नन्ददास^१ हैं, परन्तु उनसे पूर्व तथा उत्तर १२ अन्य लेखकों ने भी इस कथा को गाया है । कुन्दनपुरी नगरी में भीष्म राज्य करते थे, उनके ५ पुत्र और १ रूपसी पुत्री थी; एक दिन नारद आये और राजपुत्री के विषय में उन्होंने बताया कि उसका विवाह कृष्ण के साथ होगा; रुक्मिणी ने दृढ़ निश्चय किया और तप करने लगी; उसका भाई उससे सहमत न था; राजसूय यज्ञ में मगध देश का राजा जरासन्ध भी आया; परन्तु कृष्ण सब को पराजित करके रुक्मिणी को ले आये और उससे विधि-पूर्वक विवाह किया । मूर्ख रुक्म तथा जरासन्ध को अपने कर्म का फल मिला और संसार में मंगलोत्सव होने लगे । इस मंगलमय घटना को जो लोग सुनेंगे और सुनावेंगे उनका सब प्रकार से कल्याण होगा :—

१. नन्ददास का 'रुक्मिणीमंगल' कलकत्ते से १९३४ में प्रकाशित भी हो चुका है (द्विवेदी हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १८६, फुटनोट) ।

जो कोउ अंध मतिमंद चंद को धूर चलावै ।
 उलटि दगनि मैं परै मूढ को तब सुधि आवै ॥१२७॥
 इह विधि सब नृप जीत रुक्मिनी हरि लै आए ।
 विधिवत कियो विवाह तिहूँ पुर मंगल गाए ॥१२८॥
 जो इहु मंगल गावेहि तिहूँ पुर मंगल सो सुनै सुनावै ।
 सो सब मंगल पावै हरि-रुक्मिनि मन भावै ॥१२९॥

(नन्ददास)

नन्ददास की कृति साहित्यिक तथा स्टेडर्ड है, उनकी ऊँचाई तक दूसरे कवि नहीं पहुँचे; साथ ही अपनी रचना के अन्त में वे यह भी बतला देते हैं कि उन्होंने इसका नाम मंगल-काव्य क्यों रखा है; अन्य रचनाओं के विषय में भी यही प्रवृत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिए। आकार की दृष्टि से दूसरा रुक्मिणी मंगल विष्णुदास का है, यह पुस्तक काली की स्तुति से प्रारम्भ होकर ४६ पृष्ठ तक चलती है, 'कल्याण', 'विष्णुपद' आदि रागों के नाम दिये हुए हैं, भाषा में भी सगीत है परन्तु शुद्धता नहीं, पुस्तक बहुत पीछे की लिखी लगती है, भाषा में खड़ीबोली का स्पर्श है—'मगध देश का राजा कहीरा जरासिंध भी आया।' दूसरे विष्णुदास मथुरावासी हैं—'विष्णुदास मथुरा के लाला'; इनके रुक्मिणीमंगल में आधुनिक ब्रजभाषा की छाप है, पुस्तक का लिपिकाल १९१३ है; भाषा का नमूना देखिए :—

तेरी साँवरी सूरत माधुरी मूरति प्यारी ।
 मेरे नैनन में बसि रहो टरे नहिं टारी ॥
 अब कीजौ बेग सहाय भीर है भारी ।
 तोहि बार-बार लिखि भेजे रुक्मिनि नारी ॥

पद्मदास का 'रुक्मिणीमंगल' ३० पृष्ठ का है, इसका उपनाम 'रुक्मिणी-व्याहलो' भी लिखा है, भाषा राजस्थानी पिंगलमिश्रित है, राग तथा दोहे छन्द हैं, दोहों में काव्य-गुण हैं जो पद्मदास को मंगलकारों में ऊँचा स्थान दिला सकते हैं :—

एक मोती और दूधला, इनको यही सुभाव ।

फाटा पीछें ना मिले, करि देखौ कोट उपाव ॥

उदय के रुक्मिणीमंगल की खंडित प्रति मिलती है, २३३ दोहा आदि छन्दों में कवि ने विवाह तथा विवाहकालीन उत्साह का वर्णन किया है— 'भयो ब्याह उछाह अति, कीयौ उदै बखान' । गुमानकवि, रामलाला, नरहरि, महरचन्द, विष्णुपुरी, हीरामणि, भगवान तथा रामराय ने भी रुक्मिणी-मंगल लिखे हैं; नरहरि^१ और महरचन्द (सं० १७१६) की पुस्तकें अपूर्ण ही प्राप्त हैं, भगवान् की कृति संक्षिप्त २० पृष्ठ की है । जिस प्रकार बंगाली मंगलकाव्य की मुख्य आराध्या मनसादेवी तथा चण्डीदेवी हैं उसी प्रकार हिन्दी के मंगल-काव्य की मुख्य देवता रुक्मिणी हैं; कल्पना ने इतिहास को एक टक्कर दी और कृष्णावतार में विष्णु की सहधर्मिणी का काव्यगत एकाधिकार राधा को मिल गया, फलतः विस्मृता रुक्मिणी को लोक-साहित्य के मांगलिक गीतों में ही भटकना पड़ा ।

'कृष्णमंगल' की हमको दो प्रतियाँ मिली हैं, एक गंगादास की और दूसरी अंबरदास की; इसी के साथ वल्लभदास के 'रसिकमंगल' तथा सूरदास के 'राधामंगल' पर विचार कर लेना चाहिए । बँगला भाषा का 'कृष्णमंगल' माधवाचार्यकृत भागवत् का अनुवाद है, इसकी साहित्यिक दृष्टिभंगी^२ रचना-रीति स्वतन्त्र है, यह मंगलकाव्य होते हुए भी वैष्णव है । कवि कृष्णरामदत्त ने ३० पृष्ठ का 'राधिकामंगल' शक संवत् ११८३ में लिखा था; एक दिन राधा के अनुपम रूप-गुण का स्मरण करके घनश्याम का चित्त विषाद से विकल हो उठा, उन्होंने उद्धव को भेजा, उद्धव जब वापिस आये तो

१. संभवतः महापात्र नरहरि बन्दोजन (हि० सा० का इतिहास, पृ० १६६) ।

२. डा० तमोनाशचन्द्र दास गुप्त : प्राचीन बाँगला साहित्येर इतिहास पृष्ठ २०७ ।

कृष्ण तथा रुक्मिणी के सामने राधा की दशा का उन्होंने वर्णन किया;; सुनकर श्रीमती पिघलीं और उन्होंने विरहिणी राधा के उद्धार की प्रार्थना की :—

श्रीमती बोलेन प्रभु कर अवधान ।
 कृपा करि सुन्दरीर देउ वरदान॥
 मिलिला सुन्दरी राधागोविंद साक्षात् ।
 पुलके आकुल तनु अश्रु हय पात ।
 निष्ठुर हृदय प्रभु करि नमस्कार ।
 तापिनी राधारे प्रभु करह उद्धार ॥

× × ×

कृष्णरामदत्त कहे राधिका-मंगल ।
 शुनिले पातक नाश, शरीर निर्मल ॥

हिन्दी के इन चार राधा-सम्बन्धी मंगल-काव्यों में से अम्बरदास का कृष्णमंगल तो ६ पृष्ठ की विरुदावली है भक्ति के आवेश में रची गई; सूरदास का 'राधामंगल' १२ पृष्ठ में राधाकृष्ण की शारदीय रास-लीला का चौपाई-दोहा आदि छन्दों में वर्णन है :—

चलौ सखी जहाँ जाइए, तहाँ सबे ब्रजराज ।

गोरस बेचै प्रेमहित, एक पंथ द्वै काज ॥

से प्रारम्भ होकर उस लीला का परिपाक आशीर्वादात्मक वाक्य में हो जाता है :—

मंगल राधाकृष्ण कौ, सुनि जो नर अरु नारि ।

जिनके सकल मनोरथा, सिद्धि करहि त्रिपुराह ॥

यह निश्चय है कि यह 'राधामंगल' 'सूरसागर' का एक अंश नहीं है । गंगादास ने १७ छन्दों में 'कृष्णमंगल' नाम से दान-लीला का वर्णन किया है जो गुण की दृष्टि से अच्छा है :—

सुन्दर राधेस्याम आनन्द मंगल घने ।
 घर-घर गोपि गुवाल रूप-सोभा बने ॥
 राजत बाजुबंध खयल श्रुति सोहने ।
 गल मोतियन को हार, राधे मनमोहने ॥

वल्लभदास का 'रसिकमंगल' यदि सम्पूर्ण मिल सकता तो उसमें भागवत् की पूरी छाया मिल जाती और वह बंगाली 'कृष्णमंगल' के समान ठहरता । इसकी रचना शक संवत् १६२६ में वृन्दावन स्थित वल्लभदास ने की थी— संभवतः १६२६ शक संवत् (=१७६१ वि०) रचनाकाल न होकर लिपिकाल हो; शक संवत् देने से ऐसा लगता है कि लेखक बंगाली है, 'वृन्दावनवासी' के स्थान पर 'वृन्दावनमध्ये'^१ से इस सम्भावना की पुष्टि होती है । 'रसिक-मंगल' ४ भागों में विभक्त है, और प्रत्येक भाग में 'लहरें' हैं, प्रत्येक लहर में एक लीला का वर्णन है; वर्णन में राग भी है तथा साहित्यिक छन्द भी । 'गोपीजनवल्लभ' की लीलाओं का कवि ने रसिकों के मंगल तथा उत्साह के लिए सरस वर्णन किया है । हिन्दी मंगलकाव्य के इस दूसरे वर्ग की विशेषता यह है कि इसकी देवता राधा है इसलिए विवाह के स्थान पर सुखोल्लास ही इसका ध्येय है; इस वर्ग का आधार भागवत्पुराण है; युद्ध आदि के स्थान पर इसमें आदि से अन्त तक क्रीड़ा तथा लीला का ही वर्णन है, कथा का अभाव वर्णन-प्राचुर्य से प्रपूर्ण हो जाता है ।

'शबरीमंगल' नामक काव्य केवल ३ पृष्ठ का है; यह गोस्वामी तुलसीदास-रचित 'गीतावली' के अन्तर्गत अरण्यकाण्ड का अन्तिम (१७वाँ) गीत है, इसमें सूहो राग के ८ बन्ध हैं । किसी भक्त ने 'गीतावली' के उक्त अंश से प्रतिलिपि करके इसको अलग नाम 'शबरीमंगल' दे दिया होगा । सन्तोष की बात है कि लिपिकार ने इसको तुलसीदास की ही रचना बनाये रखा है । यह गीत 'शबरी' से प्रारम्भ होकर भगवद्भक्ति के मंगलमय

१. सकावत १६२६ । श्री वृन्दावनमध्ये माघ मास वदी तीज सोमवार के दिन ए पुस्तक संपूर्णम् । जथा पोथक तथा लेख्यते मम दोस न दीयते ।

आशीर्वाद में पूर्ण होता है; 'मंगल' शब्द का प्रयोग अन्त में नहीं है और न किसी के विवाहोत्सास का ही वर्णन है; फिर भी लिपिकार ने कदाचित् निम्न-लिखित पंक्तियों के कारण इस अंश को 'मंगल' नाम दे दिया है :—

पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी ।

अध-अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुदमंगल भरी ॥

'जानकीमंगल' की हमको दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, दोनों तुलसी की लिखी हुई; एक प्रति पृष्ठ की है। ये प्रतियाँ गोस्वामी तुलसीदास के प्रकाशित 'जानकीमंगल' से मेल नहीं खातीं; इनकी भाषा भी गोस्वामी जी की ग्रामीण भाषा से भिन्न है। संभवतः ये काव्य किसी दूसरे तुलसी की रचना हों। भाषा का सामान्य रूप देखिये :—

श्री रघुवर घनस्याम सिया भई दामिनी ।

मुनिवर मोर चकोर चातक भई भामिनी ॥

रामभुजा के निकट सिया-भुज यों लसै ।

मरकत मनि के खंभ मनौ कंचन कसै ॥

सिय भूषण प्रतिबिम्ब राम छवि उर धरै ।

मनु जमुनाजल मध्य दिव्य दीपक जरै ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने 'जानकीमंगल' तथा 'पार्वतीमंगल' नाम के दो मंगल-काव्य लिखे हैं। 'जानकीमंगल' में २१६ छन्द हैं। काव्य का प्रारम्भ 'मंगल छन्द' में गुरु गणपति आदि की स्तुति से होता है। रचना के आदि तथा अन्त में कवि ने इस रचना का विषय सीता-राम का विवाह माना है :—

सिय-रघुवीर-विवाहु जथामति गावौ ॥ २ ॥

उपवीत व्याह उछाह जे सिय-राम मंगल गावहीं ॥ २१६ ॥

'रामलला-नहछू' को 'श्रद्धा-सिद्धि-कल्याण' का दाता मानते हुए भी गोस्वामी जी ने 'मंगल'-काव्य नाम नहीं दिया, कदाचित् मंगल काव्य के लिए स्त्री-पात्र का प्राधान्य एक अनिवार्य योग्यता है। 'जानकी-

मंगल' की कथा धनुष-यज्ञ से प्रारम्भ होकर विवाह पर पूर्ण हो जाती है; इस प्रसंग में जनक-वाटिका, रावण का प्रयत्न, जनक का क्षोभ, परशुराम-आगमन आदि घटनाएँ वर्य नहीं समझी गईं। लेखक का उद्देश्य केवल मंगल-गान है, काव्य-रचना नहीं, फलतः काव्य की दृष्टि से इन लोक-गीतों का कोई महत्त्व नहीं। अन्य लोक-काव्यों के समान 'जानकीमंगल' में वर्णन नहीं है—'बरात', 'जेवनार', 'दायज' आदि के विषय में भी 'भयउ विविध विधि' कहकर कवि आगे बढ़ जाता है। इस पुस्तक के आधार पर किसी पात्र का व्यक्तित्व कल्पित नहीं हो सकता। राम और सीता पुरुष और प्रकृति या ब्रह्म और माया भी नहीं है, कवि की भक्ति भी इनके प्रति अतिरेकमयी नहीं दिखाई देती। 'जानकीमंगल' तुलसी के अन्य काव्यों के समकक्ष रखने योग्य नहीं है, इससे कवि के कवित्व, भक्ति, समन्वय या साधारणातीत व्यक्तित्व का परिचय नहीं मिलता; उस युग के आदर्श विवाह की रूपरेखा ही इस लोक-गीत से गृहीत हो सकती है।

'पार्वतीमंगल' 'जानकीमंगल' से पूर्वकृत परन्तु प्रौढ़ रचना है; इसमें केवल १६४ छन्द हैं; आकार-प्रकार आदि में 'जानकीमंगल' इसी का आश्रित है। प्रारम्भ में कवि 'रामचरितमानस' के समान इस रचना में भी शिष्टाचार आदि का पालन करता हुआ अपवाद-विदूषित वाणी के उद्धार की प्रतिज्ञा करता है :—

गावउँ गौरि-गिरीस-विवाह सुहावन ।
पाप-नसावन, पावन, मुनि-मन-भावन ॥२॥
कवित-रीति नहि जानउँ, कवि न कहावउँ ।
शंकर-चरित सुसरित मनहिं अन्हवावउँ ॥३॥
पर अपवाद-विवाद-विदूषित बानिहि ।
पावनि करउँ सो गाईं भवेस-भवानिहि ॥४॥

इन पंक्तियों से तीन निष्कर्ष स्वाभाविक हैं :—

१. यह कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से है,

२. कवि की दृष्टि में दिव्य दम्पति का विवाह-ही मंगल काव्य का उपयुक्त विषय है।

३. जो वाणी शिवा के चण्डी-चरित का वर्णन करके दूषित होगई थी उसका उद्धार शंकर के लोक-कल्याणार्थ स्वीकृत विवाह के गान से ही हो सकता है :

पुस्तक के अन्त में कवि ने कुछ अन्य सैद्धान्तिक संकेत दिये हैं, जिनसे यह अनुमान होता है कि इन मंगल-गीतों की रचना नारी-समाज के लिए हुई थी, पुरुष-वर्ग के लिए नहीं :—

मंगल-हार रचेउ कवि-मति- मृगलोचनि । १६३ ।

मृगनयनि विधुवदनी रचेउ मनि मंजु मंगल-हार सो ।

उर धरहु जुवती-जन विलोकि तिलोक-सोभा-सार सो ।

कल्याण-काज उल्लाह व्याह सनेह सहित जो गाइहैं ।

तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ॥ १६४ ॥

इससे यह पुष्टि होती है कि विवाह आदि मंगलोत्सवों पर स्त्री-समाज में जो अभद्र गीतों की प्रथा थी उसको मिटाकर मंगल-गीतों का प्रचार करने के लिए ही तुलसी ने 'रामलला नहछू', 'पार्वतीमंगल', तथा 'जानकीमंगल' लिखे; और क्योंकि परम्परा से मंगल-काव्य स्त्री-प्रधान होता है इसलिए 'मंगल' नाम केवल विवाह-मंगलों को ही दिया। इतर-सम्प्रदाय-द्वेषी शाक्त प्रभाव ने शिव और पार्वती का जो अदेवोपम, भयंकर तथा अत्याचारप्राण रूप पूर्वी मंगलकाव्यों में चित्रित किया था उसके स्थान पर शिव और शिवा का मंगलमय रूप प्रतिष्ठित करना ही 'पार्वतीमंगल' का उद्देश्य है, आगे चलकर^१ अनुकरण पर 'जानकीमंगल' की भी रचना हुई।

अद्यावधि उपलब्ध मुद्रित तथा हस्तलिखित सामग्री के आधार पर हिन्दी के मंगल-काव्यों की कुछ स्वकीय विलक्षणताएँ ज्ञात होती हैं। एकपद एवं यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि पश्चिमी मंगल-काव्य पूर्वी मंगल-

काव्य का कितना ऋणी है। भाषा, छन्द, वर्णन और रचना-शैली की दृष्टि से विशिष्ट समाज की अपेक्षा लोक-सामान्य का नैकट्य तथा स्त्री-देवतात्मकता यहाँ कदाचित् पूर्व देश से ही आई होगी। परन्तु पश्चिमी मंगलकाव्यों की प्रवृत्ति पौराणिकता तथा वैष्णवता है, ये केवल विवाह-परक तथा स्त्री-जनोपयोगी हैं। यदि १६वीं शताब्दी से पूर्व के कुछ पश्चिमी मंगलकाव्य उपलब्ध होते तो संभवतः वे पूर्वी मंगलकाव्यों से अधिक भिन्न न दिखाई पड़ते, परन्तु हिन्दी में मंगल-काव्य की परम्परा उस समय से मिलती है जब बंगला में भी असली मंगल-काव्यों का अभाव हो चला था और वैष्णव प्रभाव से वे भी पुराणपरक होने लगे थे। हिन्दी प्रदेश में केवल उसी साहित्य को संरक्षण मिल सका है, जो पुनरुत्थानवादी तथा परम्परानिष्ठ है, अतः शाक्त तथा नाथ सम्प्रदायानुप्रेरित साहित्य की या तो अधिक रचना नहीं हुई या वह तमसाच्छन्न होकर लुप्त हो गया। मंगल-काव्य के समान अनेक काव्यरूपों की ऐसी ही निर्मम गाथा है।

